सुशीला टाकभौरे की कविताओं में स्त्री और दलित चेतना

(Sushila Takbhoure Ki Kavitaon Me Stri Aur Dalit Chetana)

(Women and Dalit consciousness in the poems of Sushila Takbhoure)

एम. फिल. (हिन्दी) उपाधि के लिए प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध

शोध निर्देशक

प्रो. वीर भारत तलवार

शोधकर्ता

प्रियंका सोनकर

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली-110067

2012

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY

Centre for Indian Languages

School of Language, Literature & Culture Studies

NEW DELHI-110067, INDIA

Dated: 13/07/2012

DECLARATION

I declare that the work done in this dissertation entitled "**SUSHILA TAKBHOURE KI KAVITAON ME STRI AUR DALIT CHETANA" (WOMEN AND DALIT CONSCIOUSNESS IN THE POEMS OF SUSHILA TAKBHOURE)** submitted by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University / Institution.

PRIYANKA SONKAR

(Research Scholar)

PROF. VIR BHARAT TALWAR

(Supervisor)

CIL/SLL&CS/JNU

PROF.KRISHNASWAMY NACHIMUTHU

(Chairperson)

CIL/SLL&CS/JNU

GRAM: JAYENU, TEL : (91-011) 26717676, 267717557, EXTN. : 4217,(D) 26704217 FAX : (91-011) 2617603, 26717586

विषयानुक्रमणिका

शीर्षक	पृष्ठ संख्या
भूमिका	**i-vi**
1- पहला अध्याय:	**1-10**
सुशीला टाकभौरे का साहित्यिक परिचय	
2- दूसरा अध्याय:	**11-47**
समकालीन हिन्दी साहित्य में स्त्री और दलित विमर्श:	
एक संक्षिप्त परिचय	
3- तीसरा अध्याय:	**48-89**
सुशीला टाकभौरे की कविताओं में स्त्री चेतना	
4- चौथा अध्याय:	**90-128**
सुशीला टाकभौरे की कविताओं में दलित चेतना	
5- उपसंहार:	**129-134**
संदर्भ-ग्रंथ सूची :	**135-140**

भूमिका

समय का पहिया निरन्तर घूमता रहता है और समय के साथ-साथ परिवर्तन भी होता रहता है चाहे वह सामाजिक-सांस्कृतिक, हो या फिर आर्थिक-राजनीतिक । आज समाज का परिदृश्य बदल रहा है । स्थितियाँ पहले जैसी नहीं रह गयी हैं । आज हर इन्सान अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रहा है । हाशिए पर रहने वाला समाज आज अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो चुका है । यही कारण है कि आज दलितों और स्त्रियों में चेतना का उभार आ रहा है । हजारों वर्षों से हो रहे शोषण, अत्याचार, अपमान, उत्पीड़न और अन्याय के विरूद्ध अब वो लड़ रहे हैं । यह उनकी चेतना ही है कि वे अब शिक्षा, सामाजिक अधिकार और समानता की बात करते हैं । सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक न्याय की मांग करते हैं । वे अपना साहित्य ही नहीं, अपना इतिहास भी नये सिरे से लिख रहे हैं ।

इतिहास इस बात का साक्षी है कि दलितों और स्त्रियों का शोषण सदियों से होता आ रहा है । किन्तु जब एक दलित स्त्री के शोषण की बात आती है तो शोषण तिहरे स्तर का हो जाता है- वर्ग के स्तर पर, लिंग के स्तर पर और जाति के स्तर पर । सुशीला टाकभौरे की कविताओं में स्त्रियों और दलितों का उत्पीड़न तो दिखाई देता ही है, इसके साथ ही दलित स्त्री के तिहरे शोषण के प्रति संवेदना और आत्म-सजग अभिव्यक्ति भी दिखाई देती है ।

अपने अध्ययन में मैंने सुशीला टाकभौरे जी के चार कविता संग्रहों को आधार बनाया है- **१-स्वाति बूंद और खारे मोती (१९९३) २- यह तुम भी जानो (१९९४) ३- तुमने उसे कब पहचाना (१९९५) ४- हमारे हिस्से का सूरज (२००५)** । इन चारों कविता संग्रहों के आधार पर मैंने उनकी स्त्री और दलित चेतना से संबन्धित विभिन्न पक्षों का आलोचनात्मक अध्ययन अपने शोध-ग्रंथ में किया है ।

मेरे इस लघु शोध प्रबंध में कुल चार अध्याय हैं । पहला अध्याय 'सुशीला टाकभौरे का साहित्यिक परिचय' है, जिसमें उनके जीवन, पारिवारिक वातावरण, संघर्षमय शैक्षिक वातावरण, साहित्यिक कृतियाँ तथा उनके उपलब्धियों के विषय में है । यह अध्याय उनके प्रारम्भिक जीवन से लेकर उनकी शिक्षा-दीक्षा तथा उनके संघर्षमय जीवन और साहित्यिक उपलब्धियों से हमें रूबरू कराता है ।

दूसरा अध्याय **'समकालीन हिन्दी साहित्य में स्त्री विमर्श और दलित विमर्श: एक संक्षिप्त परिचय'** है । इस अध्याय में मैंने हिन्दी साहित्य में स्त्री और दलित विमर्श के उदय, उसकी

आयोजित किये जा रहे हैं । तब इस शोध की सार्थकता और प्रासंगिकता आवश्यक बन जाती है । हिन्दी साहित्य में स्त्री और दलित विमर्श की गूंज हमें ६०-७० के आस-पास सुनायी पड़ती है किन्तु अभी हाल में हिन्दी साहित्य में एक गूंज और सुनायी पड़ी है और वो गूंज है दलित स्त्री विमर्श की । चूंकि मैं स्त्री और दलित विमर्श दोनों पर एक साथ काम करना चाहती थी, लिहाजा मेरे निर्देशक द्वारा इस विषय **'सुशीला टाकभौरे की कविताओं में स्त्री और दलित चेतना'** पर खोज करने के सुझाव से मैं इस पर काम करने के लिए प्रेरित हुई तथा जैसा मैंने सोचा था उसी के अनुरूप मुझे काम भी मिला । अपने विषय पर काम करते हुए मैं हाल में चले 'दलित स्त्री विमर्श' जैसे मुद्दे से भी टकरायी जो मेरे लिए एकदम नया था ।

पिछले तीन दशकों के भीतर जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में स्त्री प्रश्न से संबंधित खास तौर से स्त्री और दलित चेतना पर ढेरों शोधकार्य हो चुके हैं, जिनमें से कुछ उत्कृष्ट भी हैं । किन्तु किसी हिन्दी-भाषी दलित कवयित्री पर शायद ही कोई काम हुआ हो । जे.एन.यू. में अभी इस विषय पर कोई काम नहीं हुआ है । मेरे लिए यह पहला और नया कार्य है कि मैंने स्त्री और दलित चेतना दोनों पहलुओं पर एक साथ काम किया । स्त्री और दलित विमर्श का एक सामाजिक सन्दर्भ है । इसीलिए मेरे इस शोधकार्य में कविताओं में व्यक्त स्त्री और दलित चेतना की व्याख्या सिर्फ साहित्यिक संदर्भ में ही नहीं है बल्कि सामाजिक संदर्भ में भी हुई है ।

आज स्त्री विमर्श केवल स्त्री और पुरूष के भेद को ही नहीं मिटाना चाहता है बल्कि स्त्री-अस्मिता से संबंधित पहलुओं को भी उजागर करना चाहता है । आज स्त्रियाँ उन पुरूषों से, जो साथी का दम भरते हुए स्वयं को स्वामी सिद्ध करना चाहते हैं, सवाल करना चाहती हैं कि क्या तुमने कभी एक स्त्री को समझने की कोशिश की । हमेशा से उसका दमन किया और उस पर अपना वर्चस्व जमाते रहे । इतनी शक्ति सम्पन्न नारी क्यों आज तक अपनी शक्ति से अनभिज्ञ रही है ? अपने लघु शोध-प्रबंध में मैंने इन सभी प्रश्नों को जगह दी है । इसके साथ ही दलित विमर्श की दृष्टि से भी कई मुद्दों और सवालों पर विचार किया है । यह कौन सा समाज है जहाँ बरसों से दलितों के पैरों में दासता की बेड़ियाँ और हाथों में नरक सफाई के औजार थमा दिए गए थे ? जबकि सवर्णों के हाथों में शिक्षा के लिए पुस्तकें हैं ? भारत जो अपनी संस्कृति और सभ्यता के लिए विश्व-विख्यात है, आखिर यहाँ मनुष्य-मनुष्य में ही इतना भेदभाव क्यों किया गया ? अभी तक दलितों को परम्परा की सड़ान्ध में रहने को क्यों मज़बूर किया गया ? ब्राह्मण वर्ग ने गुरू बनकर अपनी महानता की सुरक्षा के लिए

क्यों शोषित अछूत वर्ग को शिक्षा से वंचित रखा और दक्षिणा के रूप में बलिदान मांगते रहे ? दलितों में प्रगति के सोपान क्यों नहीं थे ? ये कुछ ऐसे ही ठोस प्रश्न हैं जिस पर मेरा यह शोध कार्य केन्द्रित है ।

सबसे पहले मैं अपने लघु शोध-प्रबंध के विषय के चयन से लेकर उसके पूरे निर्देशन के लिए अपने सुपरवाइजर प्रो.वीर भारत तलवार जी को आभार ज्ञापित करती हूँ, जिन्होंने समय-समय पर मेरा मार्गदर्शन किया । जिनसे मैं पढ़ी तो नहीं किन्तु उनके निर्देशन में मैंने अपना शोधकार्य किया । जब मैं उनको अपने सुपरवाइजर के रूप में चयन करने और उनके हस्ताक्षर लेने उनके घर गई तो सर्वप्रथम उन्होंने मुझसे यही प्रश्न किया कि मेरे निर्देशन में ही तुम क्यों काम करना चाहती हो, किसी और के साथ क्यों नहीं ? तो मैंने कहा कि शोधकार्य पूरे ईमानदारी, समय से और निष्पक्ष भाव से आपके निर्देशन में किया जा सकता है । मुख्यधारा में तो सभी चलते हैं किन्तु विपरीत और उल्टी धारा में कोई नहीं चलता । प्रो.वीर भारत तलवार जी के निर्देशन में यह शोधकार्य करना, मेरे लिए विपरीत धारा में चलने के समान ही था । जिनसे मैंने बहुत कुछ सीखा और जो सीखना रह गया वो सीखना चाहती हूँ । उन्होंने एक अध्यापक के साथ एक जिम्मेदार इन्सान होने के नाते मेरी तबियत का भी हमेशा ख्याल रखा । उनका हमेशा यह कहते रहना कि 'तुम्हें अभी बहुत कुछ करना है और आगे बढ़ना है', इसी हौसला आफ़ज़ायी से मैं अपने शोधकार्य को पूरी तत्परता और संलग्नता के साथ कर पायी ।

सबसे ज्यादा धन्यवाद देना चाहूंगी सुशीला टाकभौरे जी को क्योंकि अगर वो नहीं होती तो यह काम करना मुश्किल ही नहीं शायद नामुमकिन भी होता । उनके कविता संग्रह पर काम करने का तो मैंने विचार बना लिया था और यह तय भी कर लिया था किन्तु जिसके सहयोग से यह काम सम्भव हो पाता, वह सामग्री ही मेरे पास नहीं थी । केवल एक बार कहने पर ही सुशीला जी ने अपने पैसों से मुझे आधार सामग्री (अपनी कविता संग्रहों की प्रतिलिपि कराकर) नागपुर से स्पीड पोस्ट किया । उन्होंने इस विषय से सम्बन्धित पेपर और सामग्री मेरे लिए जुटायी तथा मेरा मार्गदर्शन भी किया ।

डॉ. रामचन्द्र जी और डॉ. रमन प्रसाद सिन्हा जी की भी मैं बहुत आभारी हूँ क्योंकि एम.ए. के दौरान दलित और स्त्री साहित्य यदि उनसे नहीं पढ़ा होता तो शायद मैं इन विमर्शों पर काम करने के योग्य नहीं बन पाती । दलित साहित्य और स्त्री साहित्य की एक स्पष्ट धारणा इन्हीं से ही मुझे मिली ।

मैं अपने माता-पिता की विशेष तौर पर ऋणी हूँ । मेरी माँ जो बहुत कम पढ़ी-लिखी है तथा पारम्परिक होते हुए भी रूढ़ियों को नहीं मानती, जिसने मुझे पितृसत्तात्मक समाज की लक्ष्मण रेखा पार कराया और उच्च शिक्षा के मार्ग तक पहुँचाया । उस माँ के लिए मैं चाहे जितना भी कर दूं किन्तु उनके इस अतुलनीय योगदान और समर्पण को कभी भुलाया नहीं जा सकता और नहीं चुकाया जा सकता है । पिता, जिन्होंने परिवार में अकेले श्रमिक व्यक्ति होने के बावजूद हम सभी भाई-बहनों को उच्च और अच्छी शिक्षा दी जबकि मेरी जाति का समाज अभी इतना समर्थ और शिक्षित नहीं हो पाया है जो इतना आगे तक सोच सके । पिता जी ने बेहिचक और बेरोक-टोक मुझे आगे पढ़ने की अनुमति दी, जिससे मुझे हौसला मिला ।

मेरे परिवार के सदस्यों में मेरे सभी भाई-बहनों में-वंदना, अर्चना, प्रीति, आशुतोष और पवन ने भी इस लघु शोध-प्रबंध में मेरी मदद की । खासतौर से मेरी छोटी बहन प्रीति ने जिसने अपनी बौद्धिक, तार्किक क्षमता और साहित्य में रूचि के चलते तथा अपनी तीव्र स्मरण शक्ति के कारण बहुत से मुद्दों और विषयों को स्पष्ट करने में मेरी मदद की । वंदना दीदी ने संदर्भ ग्रंथ सूची बनाने में और अर्चना दीदी ने टाईपिंग में मेरी मदद की । मेरे भाईयों में आशुतोष का बार-बार मेरे काम को लेकर पूछना, मुझे अपने कार्य के प्रति संलग्न रहने के लिए प्रेरित करता रहा । सबसे छोटा भाई जो रचनात्मक प्रवृत्ति का है जिसके साथ मेरा बहुत ही भावानात्मक और संवेदनात्मक लगाव रहा है तथा कोई भी महत्वपूर्ण लेख आने के विषय में मुझे समय-समय पर बताता भी रहा है, जिससे मुझे शोध कार्य में सहायता मिली । इन सभी की मैं कृतज्ञ हूँ ।

इसके अतिरिक्त मैं हार्दिक तौर पर अपनी सीनियर किंगसन पटेल तथा कवितेन्द्र भैय्या को भी धन्यवाद देती हूँ जिनसे मुझे अपने शोध कार्य के अध्ययन और लेखन के दौरान विभिन्न मुद्दों पर बातचीत और चीजों के स्पष्टीकरण का मौका मिलता रहा । कवितेन्द्र भैय्या द्वारा 'हरिजन से दलित' पुस्तक उपलब्ध कराना, मेरे लिए उपयोगी साबित हुआ । आलोक भैय्या ने मेरे लघु शोध-प्रबंध लिखते वक़्त कविताओं को समझाने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई ।

मेरे दोस्तों में शिउली, देविना, चन्द्रेश जो दोस्त होने के नाते जितना करना चाहिए, उन्होंने उतना और उससे बढ़कर किया । इन लोगों का सहयोग मेरे लघु शोध-प्रबंध में मशीन में लगे नट-बोल्ट की तरह है अगर वो ना हो तो सारे पुर्जे ही बिखर जायें । शिउली राजनीतिक और

सामाजिक बहसों को उठाकर, उन्हें मेरे शोधकार्य से जोड़ते हुए उनकी सार्थकता के बारे में हमेशा बताती रही । देविना जिसे 'विकीपीडिया' कहा जाय तो उचित होगा । ज्ञान का अथाह सागर उसमें भरा पड़ा है । उससे जिस विषय में भी पूछ लो चाहे वह विज्ञान, इतिहास, मानविकी, सांख्यिकी, प्रबन्धशास्त्र, सामान्यज्ञान, भूगोल, साहित्य तथा किसी भी देश का इतिहास हो, उसे सबके विषय में ज्ञान है । एक विदेशी लड़की होते हुए भी उसकी हिन्दी बहुत ही साफ-सुथरी और उत्कृष्ट है । कविता के विषय में उसकी सही पकड़ और सूक्ष्मता से उसके गूढ़ अर्थ खोज लाने की क्षमता मैंने उसके अन्दर देखी है । मेरे शोध प्रबंध में कविताओं के अर्थ की जो परतें खुलती हुई मिलेंगी उसमें सबसे बड़ी भूमिका उसी की रही है । अपने शोध-ग्रंथ को लेकर रात-रात भर जागकर उससे विचार-विमर्श, बहसें, तर्क-वितर्क के कारण ही मैं बहुत सारी ऐसी चीजों को जान पायी जिससे मैं अभी तक अनजान थी । वाक्य-विन्यास हो या शब्दों का सही चयन सबमें उसने सुधार कराया । इसके अलावा मेरी जूनियर रक्षा जो मेरी छोटी बहन के समान है । उसने हिन्दू धर्म की कुछ ऐसी चीजों के बारे में बताया, जिससे मुझे अपने लघु शोध-प्रबंध में सहयोग मिला । इन सभी को मेरा धन्यवाद ।

इसके अलावा जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के पुस्तकालय तथा उन सभी पत्रिकाओं का भी आभार प्रकट करती हूँ, जिनसे समय-समय पर मुझे लाभ मिलता रहा ।

मेरे दोस्त सुमित का साथ न होता तो यह कार्य इतनी जल्दी और समय से पहले नहीं हो पाता । हिन्दी टाईपिंग की ढीली स्पीड ही सही, उसमें सहयोग करना तथा रात भर जागकर और दिन की तपती धूप में दौड़कर प्रिन्ट आउट लेना, इसकी बाइन्डिंग कराना सब उसी के द्वारा सम्भव हो पाया है । अन्त में उसको शुक्रिया अदा करना चाहती हूँ, जिसने मुझे मेरी बीमारी में एक साथी की तरह मुझे स्नेह और प्यार दिया । रात में जागकर मुझे अस्पताल ले जाना, जे.एन.यू. के स्वास्थ्य केन्द्र के चक्कर लगाते रहना और वहाँ से ले आना ले जाना, इतना ही नहीं उसने मेरी अगर सही देखभाल न की होती तो शायद मैं अपना शोध-प्रबंध नहीं लिख पाती, यह अधूरा पड़ा रहता ।

धन्यवाद ।

प्रियंका सोनकर

पहला अध्याय

सुशीला टाकभौरे का साहित्यिक परिचय

सुशीला टाकभौरे जी के व्यक्तित्व और कृतित्व को देखते हुए कहा जा सकता है कि देखने में सामान्य दिखाई देने वाली इस महिला के दिल और दिमाग में कितने विचारों और भावनाओं के तूफान समाये हुए हैं । तीखी और पारखी नजर से समाज में जहाँ भी कुछ विशेष देखती हैं उसे वे अपने साहित्य का विषय बनाकर चिकित्सात्मक रुप में समाज तक पहुँचाती हैं ताकि पाठक उसे पढ़कर समाज की वर्तमान समस्याओं को समझ सके और उन्हें सुलझाने में अपना योगदान दे सके ।

सुशीला टाकभौरे जी का जीवन-परिचय:

सुशीला जी का जन्म मध्य प्रदेश के जिला होशंगाबाद की तहसील सीवनी मालवा के एक छोटे गांव 'बानापुरा' में हुआ । इनकी जन्म तिथि चार मार्च उन्नीस सौ चौवन [४-३-१९५४] है । आषाढ़ माह के शुक्ल पक्ष की नवमी को सुशीला जी का जन्म हुआ । जन्म के समय के आधार पर गांव के एक पंडित ने इनका नाम 'गोदावरी' सुझाया था, दूसरे पंडित ने 'रेणुका' सुझाया । मगर इनके पिता को ये नाम उतने रूचिकर नहीं लगे और उन्होंने इनका नाम 'सुशीला' रखा ।

पारिवारिक वातावरण :-

इनका पालन-पोषण आर्थिक अभावों और गरीबी के बीच हुआ । इनसे पहले इनकी दो जुड़वां बहनें पैदा हुई थीं, जो अपनी कमजोरी और कुपोषण के कारण बच न सकीं । इनके चार भाई और दो बहने हैं । दो भाई और दो बहनें इनसे बड़े हैं । दो भाई इनसे छोटे हैं । बहनों में छोटी होने के कारण वे अपने माता-पिता, नानी और सभी बहनों की लाडली रहीं ।

जैसे किसी गरीब-अछूत के बच्चे का पालन-पोषण होता है, उसी तरह इनका भी हुआ । ये कभी सुख-वैभव के पालने में नहीं झूलीं । अधिकतर नानी ही इन्हें और उनके भाई बहनों को संभालती थीं । इनके घर में अभाव थे मगर प्रेम और अपनापन भी था । घर में प्यार-दुलार इन्हें मिलता था । बेटा-बेटी के बीच भेदभाव या प्यार और जिम्मेदारी में अन्तर इनके घर में नहीं था । फिर भी समाज में यह सामान्य भाव था कि बेटे हमेशा साथ रहते हैं, बेटियां तो पराया धन हैं, उन्हें ससुराल जाकर अपना घर बसाना है । सामान्यतः माता-पिता की यह जिम्मेदारी मानी जाती थी कि -'बेटी को पाल-पोस कर बड़ा करो फिर शादी कर दो ।' किन्तु इनके घर में इनकी मां, नानी और पिताजी इनकी शिक्षा के प्रति जागरुक थे । उन्होंने यथाशक्ति सभी भाई-बहनों को पढ़ाया ।

इनके पिता श्री रामप्रसाद घांवरी थे । इनके पिताजी की शिक्षा बहुत ही कम हुई । अपने पैतृक

-गांव नेमावर के सरकारी स्कूल में सवर्ण बच्चों से अलग बैठकर दूसरी कक्षा तक ही पढ़ सके थे । वे थोड़ा जोड़-घटाना इत्यादि हिसाब कर लेते थे ।

इनकी माताजी का नाम श्रीमति पन्ना घांवरी था, जो स्कूल नहीं जा सकी थीं । उस समय ऐसी भावना की पराकाष्ठा थी कि 'लड़की जात पढ़कर का करेगी' । इसलिए उस समय ऐसे लोगों के लिए स्कूल के दरवाजे बन्द ही रहे । इनकी नानी के समय तो ऐसा सोचना असंभव ही था । नानी चाहकर भी अपनी बेटी को स्कूल नहीं भेज पाई थी । शिक्षा के प्रति ललक, उत्सुकता और आदर होने के बाद भी वे शिक्षा से वंचित रहे । इनके गांव में जाति-व्यवस्था की जड़ें काफ़ी गहरी थीं ।

नानी के साथ रहने का प्रभाव बच्चों पर बहुत पड़ा । नानी सब बच्चों को लाड़-प्यार से रखती थीं । नानी सबको प्रतिदिन कहानियाँ सुनाती थीं, जिन्हें सुशीला जी बचपन में बहुत ध्यान से सुनती थीं । नानी की कहानियों का प्रभाव उन पर बचपन से पड़ा । वे अक्सर इन कहानियों के विषय में सोचती थीं - यह कहानी ऐसी क्यों बनी ? या ऐसा न होकर कुछ और क्यों नहीं हुआ ?

छः वर्ष की आयु होने पर उनका नाम स्कूल में लिखाया गया । स्कूल जाने के लिए उनके मन में बहुत ही उत्सुकता, जिज्ञासा और आग्रह था - 'मेरा स्कूल कब शुरु होगा ?, मैं स्कूल कब जाउंगी - 'ऐसे प्रश्न वे अपने माता-पिता से पूछती थी । उनकी माता जी प्यार से चिढ़ाने के लिए कहती थी - 'हम तुम्हें स्कूल नहीं भेजेंगे, तुम घर का काम करो' तब वे रोते हुए जिद् करती थी कि मैं स्कूल जाऊंगी ।

संघर्षमय शैक्षिक वातावरण :-

उनकी प्राथमिक शिक्षा गंज प्राथमिक शाला बानापुरा में हुई । उच्चतर प्राथमिक शाला से आठवीं की बोर्ड परीक्षा उत्तीर्ण करके हाईस्कूल में आई । स्कूल का नाम था - शासकीय नेहरू स्मारक उच्चतर माध्यमिक शाला । उस समय वहाँ १०वीं, एस.एस.सी और ११वीं एच.एस.सी. थी । इन्होंने ११वीं उत्तीर्ण करने के बाद कुसुम महाविद्यालय सिवनी मालवा से पढ़ाई की । यह

महाविद्यालय सागर विश्वविद्यालय से संबद्ध है । बानापुरा-सिवनी रोड पर स्थित कुसुम महाविद्यालय से सन् १९७४ में इन्होंने बी.ए. की डिग्री प्राप्त की । उस समय सुशीला जी अपने जाति समुदाय की पहली मैट्रिक और पहली ग्रेजुएट लड़की थी ।

उस समय वाल्मीकि जाति के लड़कों का मैट्रिक पास करना या हो जाना बहुत बड़ी बात मानी जाती थी । उस समय इस जाति - समुदाय में लड़कियों की शिक्षा को महत्व नहीं दिया जाता था । लोग यही कहते थे कि- 'लड़कियां पढ़-लिखकर क्या करेंगी? रोटियां ही तो सेकेंगी?' - समाज में ऐसे विचार होने पर भी माता-पिता की प्रेरणा और सहयोग से सुशीला जी ने उच्च शिक्षा प्राप्त की ।

बी.ए. की परीक्षा के बाद उनका विवाह नागपुर के निवासी श्री सुन्दर लाल टाकभौरे जी से हुआ । वे नागपुर के हाईस्कूल में शिक्षक थे । विवाह के बाद सुशीला जी का बी.ए.का रिज़ल्ट आया, जिसमें वे अच्छे नम्बरों से उत्तीर्ण हुई । बी.ए. के बाद इन्होंने टीचर ट्रेनिंग के लिए नागपुर के बी.एड. कालेज [बानखेड़े टीचर ट्रेनिंग कालेज] में दाखिला लिया ।

१९७५-७६ में उन्होंने नागपुर विश्वविद्यालय से बी.एड.की परीक्षा उत्तीर्ण की और १९७६ के दीक्षान्त समारोह में बी.एड.की उपाधि प्राप्त की ।

१९७७ में प्रकाश हाईस्कूल में शिक्षक का पद रिक्त होने पर साक्षात्कार में सफल होने के बाद शिक्षिका के पद पर नियुक्त हुई । जुलाई १९७७ से १६ जुलाई १९८६ तक अध्यापन कार्य किया । १९८६ में एम.ए.की परीक्षा उत्तीर्ण की और एम.ए. की सफलता के बाद वे रूकीं नहीं । उसके बाद उन्होंने नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर से पी.एच.डी.की उपाधि के लिये शोधकार्य प्रारंभ किया । उनके शोधकार्य का विषय था - **अज्ञेय के कथा साहित्य में नारी** ।

१९९० में शोधकार्य पूर्ण करके परीक्षण के लिए प्रस्तुत किया । १९९२ में नागपुर विश्वविद्यालय से उन्हें पी.एच.डी.की उपाधि प्रदान की गई ।

१९८६ में नागपुर से १७ कि.मी.दूर कामठी [तहसील] में सेठ केसरीमल पोरवाल महाविद्यालय में हिन्दी प्राध्यापिका के पद पर उन्होंने कार्यभार सम्भाला । उनके विषय ज्ञान और आत्मविश्वास को देख, सहर्ष ही उनका नाम नियुक्ति हेतु भेजा गया था । १६ जुलाई १९८६ को

प्रकाश हाईस्कूल, गाँधीबाग नागपुर के शिक्षिका पद से त्यागपत्र देकर कालेज में प्राध्यापिका पद पर कार्य करना शुरू किया ।

सुशीला टाकभौरे वर्तमान में प्रध्यापिका हैं । वह महाराष्ट्र के एस.के.पोरवाल जूनियर कालेज कामठी में शिक्षण कार्य कर रही हैं । उनकी भविष्य के लिये योजना यह है कि वह वाल्मीकि समुदाय की औरतों के लिए राष्ट्रीय स्तर पर सम्मेलन गठित करेंगी । वह अभी शील-२ गोपाल नगर नागपुर में रह रही हैं ।

सुशीला टाकभौरे जी का व्यक्तित्व :-

सुशीला जी देखने में बहुत ही साधारण सी महिला हैं । उनके स्वभाव में सरलता, सादगी और विनम्रता का पुट है । हसंमुख स्वभाव उनकी विशिष्ट पहचान है । वे गंभीर चिन्तन, मनन के साथ अध्ययन-अध्यापन करते हुए लेखन -प्रकाशन का कार्य भी कर रही हैं । वे मिलनसार हैं । कूपमंडूकता से दूर, सबसे सहजता से मिलती हैं । सबके प्रति प्रेम, अपनापन और सहृदयता रखती हैं । अतिथि सत्कार को महत्व देती हैं । साहित्य और समाज सम्बंधी विषयों पर चर्चा और विचार-विमर्श करती हैं ।

गंभीर-चिन्तन मनन के साथ वे अन्तर्मुखी स्वभाव की हैं । सामान्यतः मितभाषी हैं लेकिन जहाँ बोलने की जरुरत हो, वहाँ खुलकर बोलती हैं । भावुकता उनका जन्मजात गुण है । भावुकता के माध्यम के साथ वे सबकी वेदना -संवेदना से पूर्ण रूपेण जुड़ जाती हैं । उनकी भावुकता की गहराईयाँ और ऊचाईयाँ उनके काव्य में और कहानियों में दिखाई देती है ।

किसी भी मनुष्य की भावनाएं वीभत्स न होकर सौन्दर्यपूर्ण होनी चाहिए । कोई भी बात निम्न नहीं उच्च-स्तर की हो - इन बातों को वे महत्व देती हैं । बचपन से उनकी रुचि अध्ययन की तरफ रही है, उत्तम साहित्य को पढ़ने के लिए वे हमेशा तत्पर रहती हैं ।

सुशीला जी की रुचि लेखन के प्रति बचपन से ही रही है । छठवीं-सातवीं कक्षा से ही कविता और कहानी पढ़ाये जाने पर वे उसके कथ्य और भाव में डूब जाती थीं । साहित्य के प्रति उनकी गहरी रुचि का यह प्रमाण है कि कक्षा आठवीं [१९६८] में पढ़ते समय उन्होंने अपनी पहली

कहानी **धर्मपाल** शीर्षक से लिखी थी जिसे बाद में **व्रत और व्रती** शीर्षक से **टूटता वहम** कहानी संग्रह में छापा गया है ।

कक्षा आठवीं से ही उन्हें कविता और कहानी लेखन का शौक था । स्कूल की किसी भी कापी के पीछे पन्नों में वे अपनी साहित्य रचनाएं लिखती थीं । कापियाँ इधर-उधर हो जाने पर वे अपनी उन सभी रचनाओं को इकट्ठा नहीं कर पाईं ।

विद्यार्थी जीवन में लिखी कविताएं जो सुरक्षित बच गई या मिल गई - उन्हें **स्वाति बूंद और खारे मोती** [प्रथम काव्य संग्रह १९९३] में संकलित किया गया है । तब उनका यह स्वभाव बन गया था कि कहीं कुछ अलग देखा-सुना, तो भावनाएं संवेदना के साथ साहित्य रूप में लहराते हुए बहने लगती । घर का काम करते हुए कभी मसाले पीसते हुए, रोटियाँ सेकंते हुए कोई भाव मन में आया तो दौड़कर किसी भी पन्ने पर उसे लिख देना । इस तरह उनके लेखन का आरम्भ हुआ ।

साहित्यकार बनने की प्रेरणा :-

नागपुर आने के बाद साहित्यिक व्यक्तियों से भेंट-मुलाकात विचारों के आदान-प्रदान ने इनकी साहित्यिक-रूचि को प्रोत्साहित किया । कवि सम्मेलनों में कविताओं को सुनकर भी आवेग के साथ काव्य लेखन की प्रेरणा मिली ।

साहित्यिक कृतियों की रचना और उनका प्रकाशन :-

कविता और कहानियों के साथ वे गंभीर वैचारिक लेखन भी करती हैं । साहित्य में दलित समाज और नारी की स्थिति पर आपने अनेक लेख लिखे हैं।

टूटता वहम कहानी संग्रह की कहानियाँ १९९७ के पहले की हैं । **अनुभुति के घेरे** कहानी संग्रह की कहानियाँ १९८० से १९९२ के बीच की कहानियाँ हैं ।

उनका पहला काव्य संग्रह **स्वाति बूंद और खारे मोती** का प्रकाशन १९९३ में हुआ । **यह तुम भी जानो** दूसरा काव्य संग्रह १९९४ में प्रकाशित हुआ । उनका तीसरा काव्य संग्रह **तुमने उसे कब पहचाना** १९९५ और चौथा काव्य संग्रह **हमारे हिस्से का सूरज** २००५ की रचना है ।

इन काव्य संग्रहों में इनकी दृष्टि तर्कपूर्ण तीखी और समीक्षात्मक है । विशेषकर दलित साहित्य के क्षेत्र में सुशीला जी ने एक विशिष्ट पहचान बनाई है । **हमारे हिस्से का सूरज** कविता संग्रह इस क्षेत्र में बहुत सराहनीय रहा है । **संघर्ष** कहानी संग्रह की सभी कहानियों को महत्व और प्रशंसा प्राप्त हुई है । **परिवर्तन जरूरी है** इनके निबन्धों का संग्रह है जो १९९७ में प्रकाशित हुआ ।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में नारी १९९४ और **भारतीय नारी समाज और साहित्य के ऐतिहासिक सन्दर्भों में** १९९६ दोनों ही विचारात्मक पुस्तकें हैं जो साहित्य और समाज में नारी की स्थिति पर प्रकाश डालती है ।

रंग और व्यंग्य [एकांकी] नारी विमर्श और दलित विमर्श की बात करते हैं । **नंगा सत्य** नाटक अपने आप में अनूठी दलित रचना होने पर गौरव पाने में सफल हुआ है । **शिकंजे का दर्द** सुशीला टाकभौरे जी की आत्मकथा है जो २०११ में प्रकाशित हुई है ।

कविता, कहानी, लेख, लघुकथा एकांकी, नाटक, संस्मरण आदि अनेक विधाओं में उनका लेखन लगातार चल रहा है । देश की अनेक पत्रिकाओं और समाचार पत्रों में आपकी रचनाएं और पुस्तक समीक्षाएं छपती हैं, उनमें -'युद्धरत आम-आदमी' [त्रैमासिक], 'लोकमत समाचार' [दैनिक], हंस और अपेक्षा' आदि है ।

कुछ कविताओं का अनुवाद तेलगू भाषा में हुआ है । कुछ रचनाओं का अनुवाद बांग्ला भाषा में हुआ है । सुशीला जी अनेक साहित्यिक और सामाजिक संस्थाओं से जुड़ी हुई हैं । फुले-अम्बेडकर की विचारधारा से प्रभाव ग्रहण करके समाज की दयनीय स्थिति में सुधार और परिवर्तन के लिए वे यथा-शक्ति तन मन धन से कार्य कर रही हैं । महिला जन मुक्ति आन्दोलन की वे सक्रिय कार्यकर्ता हैं ।

अखिल भारतीय स्तर पर दलित मुक्ति और नारी मुक्ति आन्दोलन के सम्मेलन सेमिनार और

विचार गोष्ठियों में वे सक्रिय रूप से भाग लेती हैं । वे नारी स्वतन्त्रता की समर्थक हैं और लिंग-भेद, जाति-भेद की विरोधी हैं ।

सुशीला टाकभौरे साहित्य और समाज से जुड़ी हुई हैं । वे अपने विचारों के प्रचार-प्रसार और विचारों के आदान-प्रदान की दृष्टि से देश के लगभग सभी प्रान्तों की यात्रा कर चुकी हैं । इनकी यात्राओं का उद्देश्य 'नारी उत्थान और सामाजिक समानता' का प्रयत्न रहा है ।

'अन्तर्राष्ट्रीय समकालीन साहित्य सम्मेलन' संस्था द्वारा आयोजित साहित्य सम्मेलन में भाग लेने के लिए वे नागपुर से श्रीलंका की यात्रा कर चुकी हैं । कोलम्बो में आयोजित कार्यकम में 'हिन्दी साहित्य की दिशा' पर आलेख वाचन किया । इस सम्मेलन में उन्होंने 'दलित साहित्य' को स्पष्ट करते हुए उसे आवश्यक और महत्वपूर्ण बताया । इसी तरह ग्रेट-ब्रिटेन और दुबई में आयोजित हिन्दी साहित्य सम्मेलन में भी इन्होंने 'दलित साहित्य और अम्बेडकर' विचारधारा के समर्थन, महत्व और आवश्यकता के संबंध में अपने विचार प्रस्तुत किये ।

सम्मान एवं पुरस्कार :-

सुशीला टाकभौरे दलित साहित्य की एक ऐसी हस्ताक्षर हैं, जिन्होंने अपने लेखन और सामाजिक कार्यों से अपनी विशिष्ट पहचान बनायी है । इन्हें अनेक सामाजिक और साहित्यिक संस्थाओं से सम्मानित किया गया है ।

१९९८ में मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री श्री दिग्विजय सिंह के हाथों मध्य प्रदेश दलित साहित्य 'अकादमी विशिष्ट सेवा सम्मान' से सम्मानित किया गया । यह सम्मान विशेष रूप से नारी की स्थिति के विश्लेषण पर आधारित 'भारतीय नारी-समाज और साहित्य के ऐतिहासिक संदर्भों में' शोध ग्रंथ पर दिया गया था ।

इसी पुस्तक पर १९९८ में हिमाचल प्रदेश के गौरा गांव में आचार्या आशा शैली द्वारा आयोजित कार्यक्रम में, हिमाचल प्रदेश की साहित्यिक संस्था 'समन्वय हिमाचल' की ओर से 'रानी रत्नकुमारी सम्मान' वहाँ के तत्कालीन कैबिनेट मिनिस्टर के हाथों दिया गया था ।

१९९८ में फ़र्रूखाबाद में उत्तर प्रदेश दलित साहित्य अकादमी की ओर से इनके लेखन और सामाजिक कार्यों को देखते हुए इन्हें 'पद्मश्री गुलाबबाई सम्मान' और विशिष्ट सम्मान से सम्मानित किया गया था ।

२००० में नागपुर की मैंगनम संस्था ने सम्मान कार्यकम में 'ज्ञान ज्योति सम्मान' से सम्मानित किया ।

२००९ जनवरी में रमणिका फाउण्डेशन की ओर से रांची में आयोजित समारोह में 'सावित्रीबाई फुले सम्मान' ग्यारह हजार राशि के साथ दिया गया।

२००९ में साहित्य समिति हैदराबाद के अध्यक्ष प्रो.धर्मपाल पीहल ने संस्था के वार्षिक कार्यक्रम में नगद राशि ५००० रूपये के साथ सम्मनित किया ।

प्रतिष्ठित पत्रिकाओं और समीक्षकों की दृष्टि में सुशीला टाकभौरे जी दलित साहित्य में एक महत्वपूर्ण दलित कवयित्री हैं ।

इनकी बहुत सी रचना ऐसी है जो अनेक विश्वविद्यालयों में हिन्दी दलित साहित्य के पाठ्यक्रम में रखी गई है और पढ़ाई जा रहीं है । दिल्ली विश्वविद्यालय, लखनऊ विश्वविद्यालय, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में भी इनकी रचनाओं को वहाँ के पाठ्यक्रम में शामिल किया गया है । इनकी कहानी **छौआ माँ**, **सिलिया**, कविताएं, नाटक और आत्मकथा आदि पढ़ाई जा रही है ।

सुशीला टाकभौरे ने अपनी रचनाओं के माध्यम से सामाजिक-समानता और स्त्री-पुरूष समानता का समर्थन करते हुए समाज की रूढ़िवादी विषमतावादी विचारधारा का विरोध किया है । समाज की वे रूढ़ियां जो नारी को बन्धनों में बांधे रखना चाहती है - उनका विरोध इनकी कहानियों का उद्देश्य है ।

इनकी कविताओं का मूल स्वर स्त्री-पुरूष समानता है । विषमतावादी समाज रचना के विरूद्ध आवाज उठाकर वे समाज में शोषित पीड़ित अछूत दलितों को समता सम्मान और सामाजिक स्वतन्त्रता का अधिकार पाने का संदेश देती हैं ।

सुशीला टाकभौरे जी के व्यक्तित्व और कृतित्व को देखते हुए कहा जा सकता है कि देखने में सामान्य दिखाई देने वाली इस महिला के दिल और दिमाग में कितने विचारों और भावनाओं के तूफान समाये हुए हैं । तीखी और पारखी नजर से समाज में जहाँ भी कुछ विशेष देखती हैं उसे वे अपने साहित्य का विषय बनाकर चिकित्सात्मक रुप में समाज तक पहुँचाती हैं ताकि पाठक उसे पढ़कर समाज की वर्तमान समस्याओं को समझ सके और उन्हें सुलझाने में अपना योगदान दे सके ।

सुशीला टाकभौरे वर्तमान में एक शिक्षिका हैं । शिक्षक समाज को दिशा देता है - इस दृष्टि से अपने अध्यापन और अपने लेखन तथा उदबोधन तीनों के माध्यम से वे समाज को दिशा देने का प्रयत्न कर रही हैं ।

सुशीला टाकभौरे वर्तमान में निरन्तर लेखन का कार्य कर रही हैं । वह न केवल दलित साहित्य में बल्कि हिन्दी साहित्य में भी अपनी एक विशिष्ट पहचान बना चुकी हैं । सुशीला जी मानवी गरिमा की रचनाकार हैं । उनके अन्दर भविष्य की सुखद आशा और आत्मविश्वास कूट-कूट कर भरा हुआ है । वह हमारे समक्ष एक ऐसी लेखिका के रूप में उपस्थित हैं जिनके मन में कुछ कर गुजरने और मानव-जीवन को सार्थक करने का जज़्बा है ।

दूसरा अध्याय:

समकालीन हिन्दी सहित्य में स्त्री और दलित विमर्श: संक्षिप्त परिचय

किसी भी घटना के घटित होने के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य होता है । 'स्त्री विमर्श', 'दलित विमर्श' तथा 'दलित स्त्री विमर्श' के पीछे भी महत्वपूर्ण कारण है । अगर भारतीय सामाजिक व्यवस्था में सबको समान दर्जा मिला होता तो आज २१वीं सदी में अपनी अस्मिता को लेकर जितने भी विमर्श चल रहे हैं, उसकी जरूरत नहीं पड़ती । सदियों पहले से दलितों और स्त्रियों को मुख्यधारा से ढकेल कर हाशिए पर रख दिया गया था । आज जब उनमें अपने सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अधिकारों के लिए तथा अपने अस्तित्व और अस्मिता को लेकर चेतना आयी है तो इन विमर्शों के रूप में आंदोलन उठ खड़े हुए हैं ।

(इसी अध्याय का अंश)

स्त्री विमर्श

१९४७ की स्वतन्त्रता को हम नए मूल्यों और जीवन-दृष्टि का प्रस्थान बिन्दु मान सकते हैं । लम्बी गुलामी के बाद भारत के इतिहास की इस क्रान्तिकारी घटना का दूरगामी प्रभाव साहित्य और कला पर भी सहज ही पड़ा । स्वतन्त्रता को हम भारतीय साहित्य की ऐसी विभाजक रेखा मान सकते हैं जहाँ नए सिरे से लेखन का दौर शुरू होता है । स्वतन्त्रता के समय दो पीढ़ियों का विकास हुआ । पहली वह युवा पीढ़ी थी जिसने अपना बचपन गुलामी में गुजारा था और वह गुलामी के संस्कारों के साथ युवा हो रही थी । दूसरी पीढ़ी वह थी जिसने स्वतन्त्र भारत में जन्म लिया तथा जो सन् ७० के आस-पास युवा हुई । यह पीढ़ी स्वतन्त्रता का स्वाद लेते हुए एक नए नजरिए के साथ विकसित हुई थी ।

यही वह समय था जब लोगों को अपने सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक अधिकारों के बारे में सोचने का अवसर मिला । तो भला दलित और स्त्रियाँ इन चीजों से पीछे कैसे रहतीं ? स्त्रियों और दलितों को भी शिक्षा, रोजगार, राजनीतिक और सम्पत्ति संबंधी अधिकारों के उपभोग का मौका मिला । शिक्षा एवं रोजगार ऐसे हथियार थे जिसने स्त्री और दलित की स्थिति में बदलाव हेतु अनुकूल परिस्थितियों को जन्म दिया । इनके बदलते नजरिये ने इन्हें व्यापक परिप्रेक्ष्य में चीजों को सोचने, समझने और निर्णय लेने का अवसर दिया ।

इन सभी चीजों को अगर ध्यान में रखकर देखें तो हमें ७० के दशक के बाद का समय स्त्री-विमर्श के मुद्दों के लिए निर्धारित करना होगा । भूमंडलीकरण ने अपनी तमाम अच्छाइयों और बुराइयों के साथ सभी वर्ग की स्त्रियों को घर से बाहर निकलने का अवसर प्रदान किया । स्त्री के लिए जो क्षेत्र अभी तक वर्जित माने जाते थे वहाँ उसने अपनी-ठोस भूमिका निभायी, उसने अपने आर्थिक स्वावलम्बन की दिशा में तीव्र प्रयास किए और उनके

परिणाम भी सामने आए । आर्थिक स्वावलम्बन ने स्त्री को कई अर्थों में बदलने में अपनी मदद की । गर्भ निरोधक दवाओं और गर्भपात के अधिकार ने स्त्री को आतंकित रहने से मुक्ति दी । नए वैज्ञानिक शोधों ने स्त्री के दोयम दर्जे की भूमिका को नकारा ।

९० के बाद स्त्री का साहित्य जगत और विचार-विमर्श के केन्द्र में आना हमारे आर्थिक, सामाजिक विकास का परिणाम है । इस समय स्त्री-मुक्ति के नए प्रश्न उठे, आयोग बने, कानून बदले, नए कानून बने । जनसंचार, पत्रकारिता, शिक्षा, तकनीक और व्यापार के क्षेत्र में पढ़ी-लिखी महिलाओं ने एक महत्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज कराई । इस समय की स्त्रियाँ घर की चारदीवारी को लांघकर तथा चूल्हे-चौके तक सीमित न रहकर अपने अन्दर की प्रतिभा को उजागर करने लगी । इस दशक में स्त्रियों ने विशेष रूप से एक व्यक्ति के रूप में अपनी पहचान स्थापित की ।

स्त्री-विमर्श के अन्तर्गत स्त्री-संबंधी प्रश्नों को केन्द्र में रखते हुए स्त्री द्वारा लिखा गया और स्त्री के विषय में लिखा गया साहित्य आता है । इसे साहित्य में हम 'स्त्री-विमर्श' के रूप में जानते हैं । वह स्त्री की बराबरी को उसका राजनीतिक आधार मानता है और उसे स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में परिभाषित करता है । इसके मूल में अनुभव की प्रमाणिकता का तर्क दिया जाता है । स्त्री -विमर्श के संबंध में यह विवाद का विषय रहा है कि यह सिर्फ स्त्रियों के लिए आरक्षित क्षेत्र है या लेखक होने के नाते पुरूष की भागीदारी की संभावना भी वहाँ बनती है ।

महादेवी वर्मा ने अपनी पुस्तक 'श्रृँखला की कड़ियाँ' में स्त्री के अनुभव की प्रमाणिकता की बात तो की है किन्तु उन्होंने स्त्री-प्रश्न को पुरूष के लिए वर्जित क्षेत्र नहीं माना था । वह अनुभव की प्रमाणिकता के विषय में लिखती हैं कि- **"पुरूष के द्वारा नारी चित्रण अधिक आदर्श बन सकता है । परन्तु अधिक सत्य नहीं, विकृति के अधिक निकट पहुंच सकता है किन्तु यथार्थ के अधिक समीप नहीं । पुरूष के लिए नारीत्व अनुमान है नारी के लिए अनुभव, अतः अपने जीवन का जैसा सजीव चित्र वह हमें दे सकेगी वैसा पुरूष बहुत साधना के उपरान्त भी शायद ही दे सके ।"**[१] पुरूष चाहे कितने भी ईमानदार हों उनकी भूमिका 'हमदर्द' से अधिक नहीं हो सकती । वे हमेशा पुरूष स्थिति में रहकर ही इस पर विषय के रूप में विचार करेंगे । स्त्री के लिए यह मीरा के उस दर्द की तरह है कि 'घायल

की गति घायल जाणैं और न जाणैं कोय ।' सच भी है कि घायल व्यक्ति ही अपनी पीड़ा, दुःख और दर्द को जानता है दूसरा व्यक्ति केवल हमदर्दी जता सकता है । इण्डिया टुडे की साहित्यिक वार्षिकी (१९९७) में स्त्री लेखन में स्त्री के एकाधिकार पर काफ़ी बहस हुई यद्यपि उसमें पुरूष रचनाकारों की भागीदारी नहीं थी; फिर भी अधिकांश रचनाकारों ने यह स्वीकारा कि **"लेखन, लेखन होता है, नर मादा नहीं । उसे बांटकर देखने वाली दृष्टि पूर्वाग्रह से ग्रस्त है ।"**[२]

यह बात सही है कि स्त्री होने के नाते स्त्री स्वानुभूति पर आधारित प्रमाणिक व विश्वसनीय साहित्य की रचना कर सकती है । किन्तु साहित्य के क्षेत्र में लैंगिक आधार पर स्वानुभूति व सहानुभूति के आधार पर हम स्त्री विमर्श को केवल लेखिकाओं के एकाधिकार का क्षेत्र नहीं मान सकते ।

बीसवीं सदी के बाद की हिन्दी लेखिकाएं स्त्री विमर्श के नाम पर जहाँ पुरूष समाज के विरुद्ध खड़ी नज़र आती हैं, वहीं स्वयं भी पुरूषवादी मानसिकता की शिकार हुयी हैं जिस पर स्त्री विमर्श के अंतर्गत कम विचार किया गया है । व्यापक अर्थ में 'स्त्री-विमर्श' स्त्री जीवन के अनछुए और अनजाने पक्षों को व्यक्त करने का अवसर देता है, परन्तु उसका उद्देश्य साहित्य एवं जीवन में स्त्री के दोयम दर्जे की स्थिति पर सिर्फ आंसू बहाना और यथास्थिति स्वीकार करना नहीं है बल्कि इसके जिम्मेदार तथ्यों की खोज करना है । इस संबंध में रेखा कास्त्वार अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखती हैं कि- **"स्त्री-विमर्श स्त्री के स्वयं की स्थिति के बारे में सोचने और निर्णय करने का विमर्श है । यह स्वयं चेती हुई स्त्री के कमाए हुए अधिकार हैं जहां उसे अपने खिलाफ़ होने वाले हर ग़ैरवाज़िब सुलूक से ख़ुद निपटना है ।"**[३] हिन्दी में 'स्त्री-विमर्श' की शुरूआत सर्वप्रथम पत्र-पत्रिकाओं में हुई थी । पत्र-पत्रिकाओं का स्त्री-चेतना के विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है । हिन्दी में स्त्रियों से संबंधित पहली पत्रिका १८७४ में भारतेन्दु द्वारा प्रकाशित 'बाल-बोधिनी' थी । इधर पिछले २५-३० वर्षों में अपर्णा, आम-आदमी, हंस, मानुषी, निमित्त, उत्तरार्द्ध, उद्भावना, साक्षात्कार आदि पत्रिकाओं के स्त्री अंक प्रकाशित हुए । स्त्री-लेखन को स्त्री-विमर्श के रूप में स्थापित करने में महिला विशेषाकों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है ।

स्त्री-लेखन के इतिहास के पन्नों को अगर हम एक बार पलट कर देखेंगे तो पाएंगे कि

इसकी जड़ें बहुत दूर-दूर तक गई हैं । इसके बीज हमें लोक-गाथाओं और कविताओं में देखने को मिलेंगे । अगर हम भारतीय भाषाओं की बात करें तो थेरी गाथा को स्त्री-लेखन के शुरूआत के तौर पर देख सकते हैं । हिन्दी में हम स्त्री-लेखन की शुरूआत मीराबाई से मान सकते हैं । जहां हिन्दी की प्रसिद्ध महिला आलोचक डॉ.सुमन राजे मीरा के लेखन से ही हिन्दी में स्त्री-विमर्श की शुरूआत मानते हुए लिखती हैं **-"यहीं से स्त्री-विमर्श की असली शुरूआत के बीज पड़ने लगते हैं.....मध्ययुगीन साहित्य में मीरा का जीवन और साहित्य नारी विद्रोह का रचनात्मक आगाज़ है ।"**[४] वहीं हिन्दी की प्रसिद्ध कथा आलोचक रोहिणी अग्रवाल ने अपनी पुस्तक 'स्त्री-लेखन:स्वप्न और संकल्प' में मीरा को हिन्दी की पहली स्त्री विमर्शकार के रूप में स्थापित किया है ।

मीरा का अपने समय से आगे जाना और समाज की बनी-बनायी दकियानूसी रूढ़ियों और मान्यताओं पर प्रहार करना ही उन्हें आज के लिए प्रासंगिक बना देता है । सुमन राजे और रोहिणी अग्रवाल यदि मीराबाई को हिन्दी की पहली स्त्री-विमर्शकार के रूप में देखती हैं तो इसके पीछे यही कारण है । एक स्त्री का सामंती समाज और पितृसत्तात्मक व्यवस्था से लोहा लेना ही उसके विद्रोही स्वभाव को दर्शाता है और यहां तक कि वह समाज उसे बावंली भी घोषित कर देता है । हमारा रूढ़िग्रस्त पितृसत्तात्मक समाज एक स्त्री को इतनी छूट नहीं देता है कि वह उसकी मान्यताओं का खंडन भी कर सके और इस समाज में एक 'व्यक्ति' के रूप में बनी भी रहे । किन्तु मीरा ने यह करके अपने समय से आगे जाकर दिखाया ।

१९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में सशक्त महिला लेखिकाओं में अज्ञात हिन्दू महिला, ताराबाई शिन्दे, पं.रमाबाई तथा दु:खिनी बाला का नाम प्रमुख रूप से मिलता है । इन चारों विद्रोही स्त्रियों ने अपने युग में पितृसत्तात्मक व्यवस्था पर करारा चोट किया । कालक्रम के अनुसार सुभद्रा कुमारी चौहान अपने युग की निर्भीक लेखिका के रूप में हमारे समक्ष आती हैं । सुभद्रा कुमारी चौहान को हम केवल उनकी प्रसिद्ध कविता 'खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी' से जानते, पहचानते हैं । किन्तु इसके इतर उन्होंने कहानियाँ भी लिखीं । उनकी प्रमुख चार कहानियाँ - मंझली दीदी, थाती, उन्मादिनी, अनुरोध हैं - जिसमें वे स्त्री-पुरूष के बीच प्रेम और मैत्री की भावनात्मक एवं मानवीय अनिवार्यता की पैरवी

करती हैं । रोहिणी अग्रवाल उनकी महत्ता को प्रतिपादित करते हुए लिखती हैं - **"सुभद्राकुमारी चौहान सही मायनों में समन्वित नारीवाद की अग्रदूती दिखाई देती हैं । उनका समूचा लेखन इस तथ्य को प्रतिपादित करता है कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था के पुनरीक्षण के बिना न नारी मुक्ति संभव है, न सामाजिक मुक्ति ।"**[5] सुभद्रा कुमारी चौहान के बाद हिन्दी साहित्य में स्त्री अधिकारों की जबर्दस्त पैरोकार के रूप में जो नाम आता है वह महादेवी वर्मा का है । उनका प्रसिद्ध निबंध संग्रह 'श्रृँखला की कड़ियाँ' है, जिसमें स्त्री समस्याओं को चित्रित किया गया है । उनके स्त्री दृष्टिकोण के ऊपर प्रकाश डालते हुए कात्यायनी लिखती हैं - **"महादेवी वर्मा ने स्त्री की स्वतन्त्र अस्मिता के प्रश्न पर विचार करते हुए इस प्रश्न को स्त्रियों के अर्थ स्वातन्त्र्य के प्रश्न से, उनकी सामाजिक-पारिवारिक पराधीनता के प्रश्न से, पुरूष वर्चस्ववादी सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों से और स्वयं स्त्री समुदाय में व्याप्त बद्धमूल रूढ़ संस्कारों की दिमागी गुलामी से जोड़कर देखा । इस मायने में महादेवी का चिंतन मौलिकता और वैज्ञानिक तर्कणा की दृष्टि से उन्हें बीसवीं शताब्दी में पूरी दुनिया की अग्रणी स्त्री-चिंतकों के बीच स्थान पाने का हक़दार बना देता है ।"**[6] इस तरह से महादेवी वर्मा को देंखे तो पाएंगे कि उन्होंने स्त्री को सामाजिक रूप से उपयोगी व्यक्ति बनने की सलाह दी है । नवजागरण काल में जिन लोगों ने भी स्त्री संबंधित पहलुओं पर विचार किया या लेखनी चलाई सभी स्त्री के सुधार परिष्कार की ही बात करते हैं वह चाहे जिसका भी लेखन हो ।

वैसे तो महिला लेखन की शुरूआत कविता से हुई, जो अधिकतर राष्ट्रीय भावना से युक्त थी । हिन्दी के साथ अन्य भारतीय भाषाओं में भी कविता में स्त्री चेतना तथा नारी संघर्ष का जोशपूर्ण स्वर सुनाई देता है । कविता में व्यक्त संवेदना की अपेक्षा स्त्री चेतना की कथा साहित्य में व्यापकता मिलती है । यद्यपि कथा लेखन की शुरूआत देर से हुई, किन्तु शुरू होने के बाद वहां स्त्री चर्चा के केन्द्र में निरन्तर रही ।

स्त्री-लेखन की इस लम्बी पृष्ठभूमि के बाद हम समकालीन स्त्री विमर्श पर आते हैं । वर्तमान समय में स्त्री ने जीवन और जगत के विविध क्षेत्रों में अपनी एक स्वतन्त्र पहचान बनाई है । सृष्टि के प्रारंभिक काल से ही उस पर ममतामयी माँ, स्नेहशील भगिनी और सेवारत पतिव्रता पत्नी के जो आवरण डाल दिए गए थे उससे वह अपनी दक्षता, बौद्धिक

संपन्नता और शक्ति को भुलाकर मात्र इन्हीं दायरों में कैद हो गई थी । प्रभा खेतान ने अपने उपन्यास 'आओ पेपे घर चलें' में लिखा है - **"औरत कहाँ नहीं रोती और कब नहीं रोती ? वह जितनी रोती है, उतनी ही औरत होती है ।"**[७] किंतु स्थितियाँ अब पहले जैसी नहीं रही । एक बदले नजरिए के साथ स्त्री ने अपनी अस्मिता को लेकर इस धरती पर क़दम रखा है । वह अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को लेकर सवाल खड़ा करती है कि वास्तव में वह एक स्वतन्त्र प्राणी है या नहीं? यह सच है कि साहित्यिक क्षेत्र पर प्रायः पुरूष लेखकों का एकाधिकार रहा है, परन्तु अब बहुत सी स्त्रियों ने अपने लेखन के माध्यम से स्त्री लेखन को सशक्त किया है । मन्नू भडांरी, कृष्णा सोबती, उषा प्रियवंदा, राजी सेठ, मृदुला गर्ग, ममता कालिया, चित्रा मुद्गल, सुधा अरोड़ा, सूर्यबाला, अर्चना वर्मा, प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, नासिरा शर्मा, अलका सरावगी, कृष्णा अग्निहोत्री, सुनीता जैन, मेहरुन्निसा परवेज जैसी महिला लेखिकाओं की एक पूरी जमात ने पुरूष लेखकों को चुनौती दी है ।

सत्तर के दशक से 'स्त्री-विमर्श' और उसके संघर्ष का अधिकांश इतिहास जागरूक होती हुई स्त्री का अपना रचा हुआ इतिहास है । नगरों तथा महानगरों में शिक्षित एवं नवचेतना युक्त स्त्रियों का एक ऐसा वर्ग तैयार हो गया था जो समाज के विविध क्षेत्रों में अपनी कार्य क्षमता प्रमाणित करने के लिए उत्सुक था । उसके हाथों की कलम स्त्री का स्त्री से साक्षात्कार कराने लगी । अब तक उसे अपने लेखन की सृजनात्मकता का बोध न था किन्तु अब वह अपनी कुशाग्र मेधा और सृजनात्मक क्षमता को पहचानने लगी । स्त्री विमर्श का साहित्यिक परिप्रेक्ष्य स्वचेतना की विविध आंतरिक एवं बाह्य धाराओं से सिंचित होने लगा ।

हिन्दी कथा लेखिकाओं ने अपने लेखन के माध्यम से स्त्री को अपने पुरूष पर आश्रित मानने के बजाय उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व के निर्माण की बात कहकर स्त्रीवाद एवं उसके संघर्ष को एक निश्चित परिभाषा दी । प्रभा खेतान लिखती हैं - **"स्त्री की मुक्ति की चर्चा करने वाला पुरूष अपनी तमाम हमदर्दी, नेक इरादे तथा अथक प्रयासों के बावजूद वर्णन में स्वयं को स्त्री का प्रतिनिधि बनाता चला जाता है । इस प्रकार स्त्री अपना प्रतिनिधित्व स्वयं ही करने के अवसर तथा अधिकारों से वंचित रह जाती है ।"**[८] पुरूषों के इस रवैये से स्त्री अभी तक अनभिज्ञ थी, जिसके कारण वह अपनी इच्छाओं और स्वतन्त्रता का गला

घोंटते आयी थी किन्तु आज पुरूष की इस हमदर्दी और सहानुभूति को वह भांप गयी है कि उसे पितृसत्तात्मक समाज में मुक्ति नहीं मिलने वाली । इसीलिए वह एक ऐसा समाज चाहती है जहाँ सारे मानदण्ड वह स्वयं तय करे और अपनी इच्छानुसार जी सके ।

स्त्री विमर्श ने स्त्री को वस्तु से व्यक्ति बनने की समझ दी । रमणिका गुप्ता का मानना है कि **"स्त्री विमर्श से स्त्रियों को ऑटोनामी यानी स्वायत्तता की इच्छा जगी है, उनमें निर्णय लेने की शक्ति पनपी है, हांलाकि इतना ही पर्याप्त नहीं है क्योंकि अभी भी और बहुत कुछ करना बाकी है ।"**[९] इस प्रकार स्त्री विमर्श ने स्त्री को एक विस्तृत फलक पर सोचने का मौका दिया ।

समकालीन महिला रचनाकारों ने अपने लेखन के माध्यम से अपने जीवन का यथार्थ प्रस्तुत किया है । पितृसत्तात्मक सोच और संस्कृति के बीच महिला लेखन स्थापित पंरपरा से परे जाकर अपने व्यक्तित्व की तलाश और पहचान है और इस तलाश में उसकी जो तपिश, पीड़ा, दर्द, अनुभूति और उपलब्धि है, उसकी व्यापक अभिव्यक्ति आज के स्त्री विमर्श से संबंधित समकालीन रचनाओं में दर्ज हुई है ।

सत्तर और अस्सी के दशक में लेखिकाओं ने जैसे पूरे आकाश को अपने मुट्ठी में भर लेने की आकांक्षा प्रकट की । इस समय स्त्रियों के जीवन से जुड़े अनेक सवालों (बराबरी का सवाल, मातृत्व का सवाल, स्त्री का सम्पत्ति पर अधिकार का सवाल, देह मुक्ति और स्त्री मुक्ति का सवाल) को लेकर विश्व भर में हलचल मची थी । स्वावलम्बी होने के लिए उसने कूपमडूंकता से निकल कर चौखट से बाहर क़दम रखा । इस प्रकार उसके जीवन में क्रांति का सूत्रपात हुआ। उसे अब पितृसत्तात्मक सत्ता के अधीन परतंत्र और निष्क्रिय नहीं बनाया जा सकता था । यद्यपि जागरुकता का यह अहसास महानगरों के स्त्री वर्ग तक ही सीमित रहा । किंतु साहसपूर्ण भूमिका और संघर्षपूर्ण चुनौतियों को नई औपन्यासिक कृतियों (कृष्णा सोबती की 'सूरजमुखी अंधेरे के' और 'मित्रो मरजानी', मन्नू भंडारी का 'आपका बंटी' और चित्रा मुद्ग्ल का 'आँवा' तथा मृदुला गर्ग का 'कठ्गुलाब' आदि) में बड़े ही जीवंत रूप से रचा जा रहा था । यह उपन्यास लेखन मुक्ति का मार्ग खोजती हुई आधुनिक स्त्री के जीवन के विविध पहलुओं को परत-दर-परत बड़ी ताकत के साथ उजागर करता है ।

कृष्णा सोबती (ज.१९२५) का मित्रो मरजानी (१९६७), सूरजमुखी अंधेरे के (१९७२), दिलोदानिश (१९९३), मन्नू भंडारी (ज.१९३१) का आपका बंटी (१९७१), राजी सेठ (ज.१९३५) का तत्-सम (१९८३), मंजुल भगत (ज.१९३६) का अनारो (१९७७), तिरछी बौछार (१९८४), मृदुला गर्ग (ज.१९३८) का उसके हिस्से की धूप (१९७५), कठ्गुलाब (१९९६), ममता कालिया (ज.१९४०) का बेघर (१९७१), प्रभा खेतान (ज.१९४२) का आओ पेपे घर चलें (१९९०), छिन्नमस्ता (१९९३), चित्रा मुद्ग्ल (ज.१९४४) का एक ज़मीन अपनी (१९९०), आँवा (२०००), मैत्रेयी पुष्पा (ज.१९४४) का चाक (१९९७), मृणाल पाण्डे (ज.१९४६) की लड़कियाँ, गीताजंली श्री (१९५५) का तिरोहित भाई, अलका सरावगी (१९६०) का कलिकथा बाया-बाईपास (१९९८) आदि लेखिकाओं ने स्त्री संघर्ष को सुविचारित रूप में उपन्यास विधा के माध्यम से प्रस्तुत किया है । इस कथात्मक साहित्य के माध्यम से स्त्रियों ने अपने बहुआयामी जीवन की विसंगतियों और विडम्बनाओं को उकेरा है । यह कथात्मक साहित्य उनकी ज़िदगी के अंधेरे कोनों मे सूर्य रश्मियों की भांति घुसकर आर-पार देखने का जोखिम उठा रहा है । हम यह जानते हैं कि संघर्ष ही जीवन की श्रृँखला है । यह निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है । हम एक ही रात में पुरूष समाज की मानसिकता को बदल नहीं सकते । इसको बदलने में कुछ वक़्त अवश्य लगेगा । यह एक सच्चाई अवश्य है कि सदियों से चली आ रही पीढ़ी-दर पीढ़ी लागू सत्ता तंत्र की ताकत को समझने में स्त्री सक्षम है । नब्बे के दशक में शिक्षित स्त्री समाज में अपनी पुख़्ता पहचान बनाने के लिए विशेष रूप से आग्रहशील हुई है । वह पुरूषों की वर्चस्ववादिता को चुनौती दे रही है । उसे यह एहसास है कि ज़िंदगी को आत्मसम्मान के साथ जीने के लिए स्वावलम्बन जरूरी है, वही उसकी अस्मिता का संवाहक भी है ।

स्वतंत्र भारत का समकालीन आंदोलन महिलाओं की उपेक्षा, शोषण और श्रम में लिंग-आधारित भेदभाव को समाप्त करने तथा बराबरी के सिद्धान्त का दृढ़तापूर्वक पालन करने की नीति के साथ प्रारंभ हुआ; जिसमें स्त्री-पुरूष से संबंधित अनेक मुद्दों पर बहस हुई । कई संगठन बने । सभी संगठनों की अलग-अलग चिंतन पद्धति तैयार हुई । कई बार इन संगठनों में आपसी मतभेद भी हुए । फिर भी, सभी संगठनों की आंतरिक दृष्टि -'स्त्री-मुक्ति' ही रही । हम भारत में स्त्री-विमर्श के इतिहास पर दृष्टिपात करें, तो ज्ञात होता है कि स्वाधीनता पूर्व का नारी आंदोलन, जो खास तौर पर स्त्री-पुरूष संबंधों पर ही केन्द्रित

था, स्वाधीनता के बाद उसने दूसरा मोड़ अपनाया, जिसमें स्त्री-पुरूष संबंध के साथ-साथ स्त्री समस्याओं को स्वर मिला ।

समकालीन हिन्दी साहित्य में स्त्री-विमर्श के अन्तर्गत विभिन्न धाराएं दिखाई देती हैं । इसमें कई धाराएं ऐसी हैं, जिसमें कुछ महिला रचनाकारों ने अपने को घोषित नारीवादी करार दिया है । उनमें मैत्रेयी पुष्पा, रोहिणी अग्रवाल, अर्चना वर्मा, रमणिका गुप्ता, अनामिका, रूपरेखा वर्मा, प्रभा खेतान तथा कात्यायनी आती हैं ।

देह केन्द्रित मसलों को मैत्रेयी पुष्पा ने अपने लेखन का केन्द्र बनाया है । मैत्रेयी पुष्पा विचारों की परिपक्वता और गहन मानवीय संवेदना को उकेरने की कला में समकालीन हिन्दी रचनाकारों में काफी चर्चित और विशिष्ट हैं । आज भारतीय समाज में स्त्री-मुक्ति के साथ अविभाजित रूप से जुड़ी देह-मुक्ति की धारणा ने गहरी हलचल मचा दी है । मैत्रेयी पुष्पा का मानना है कि देह-मुक्ति स्त्री की अस्मिता का महत्वपूर्ण प्रश्न है ।

कानूनी मुद्दों को अरविन्द जैन ने अपने लेखन का केन्द्रीय बिन्दु बनाया है । वह अपनी रचनाओं में लेखन के तीन धरातलों पर जीते हैं -साहित्य, कानून और जीवन । अरविन्द जैन ने स्त्री के विवाह, पुनर्विवाह, तलाक और सम्पत्ति में उसके अधिकार के प्रश्नों को अपने लेखन का विषय बनाया है । उनका मानना है कि भारतीय न्याय व्यवस्था ने स्त्री को पुरूष से मुक्ति के अवसर प्रदान किए हैं । इस न्याय व्यवस्था में स्त्री के लिए तलाक पाना सहज नहीं है । क्योंकि तलाक के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण स्त्री के पक्ष में नहीं जाता, सारी गलती स्त्री की मानी जाती है और उसके पुनर्विवाह के अवसर को क्षीण करता है । फिर भी कानूनी एवं सामाजिक दृष्टि से पुनर्विवाह संभंव हुए हैं । कानून के क्षेत्र में स्त्री-पुरूष अधिकारों में जो विभेद है, हिन्दी साहित्य में उसको सबसे बढ़िया ढंग से अरविन्द जैन ने उठाया है । कानून व्यवस्था में जितने भी नियम है तथा उनमें जितनी भी खामियां मौजूद हैं जैसे कि लाख उत्पीड़न करने के बाद भी पुरूष बच जाता है और वह पितृसत्तात्मक व्यवस्था का ही समर्थन करता है आदि इन सभी मुद्दों को अरविन्द जैन अपने लेखन के केन्द्र में लाते हैं । आर्थिक समस्याओं को कात्यायनी और प्रभा खेतान के यहाँ मुखर रूप से अभिव्यक्ति मिली है । आर्थिक मुद्दे इनके लेखन के केन्द्र में है । प्रभा खेतान का प्रसिद्ध उपन्यास 'छिन्नमस्ता' इसका प्रमुख उदाहरण है । प्रिया का परिवार जिस

वित्त वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है वहाँ पैसे की कमी नहीं, करोड़ों का व्यवसाय है हीरे जवाहरात है, मौज-मस्ती के लिए विदेश यात्राएं हैं, मंहगी शॉपिंग के अवसर हैं । ऐसे परिवार में स्त्री का आर्थिक स्वावलम्बन परम्परागत मस्तिष्क में प्रश्न खड़े करता है - **"और माँ हम लोगों को रूपयों की तो जरूरत नहीं ।" प्रिया के दृष्टिकोण को भी समझना होगा - 'मुझे तो है बेटा'**[१०] सत्तर-अस्सी के दशक से संबंधित (प्रिया के अपने लिए संघर्ष के यही वर्ष हैं) समाज शास्त्रीय अध्ययन बतलाते हैं कि अब सिर्फ़ परिवार को आर्थिक सहयोग देने की भावना मात्र स्त्री को आर्थिक स्वावलम्बन की ओर प्रेरित नहीं करती वरन् उसके पीछे सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कारण भी महत्वपूर्ण हैं ।'[११] उदारवादी दृष्टिकोण से अर्चना वर्मा एवं राजकिशोर ने अपना लेखन कार्य किया है । इसी तरह अपने लेखन में सामाजिक संरचना की पड़ताल रूपरेखा वर्मा और अनामिका ने की है ।

नब्बे के दशक में स्त्री रचनाकारों ने कुछ ऐसे मुद्दे भी उठाये जो अभी तक एक सिरे से साहित्य में गायब थे । स्त्री की अस्मिता और विस्तार का प्रश्न, स्त्री-देह का प्रश्न, उत्तराधिकार का प्रश्न, सम्पत्ति का अधिकार, विवाह और उससे जुड़े प्रश्न, स्त्री मुक्ति का प्रश्न, यौन शुचिता का प्रश्न और मातृत्व के अधिकार का प्रश्न आदि ऐसे ही महत्वपूर्ण मुद्दे हैं जिस पर नब्बे के दशक के स्त्री रचनाकारों ने अपनी बेबाक टिप्पणियां की है । उन्होंने इन सभी मुद्दों को अपनी रचना (चाक-मैत्रेयी पुष्पा, छिन्नमस्ता-प्रभा खेतान, कठ गुलाब-मृदुला गर्ग, आवाँ-चित्रा मुद्गल) का केन्द्र बनाया है ।

१९९० का दशक ऐसे दौर के रूप में हमारे समक्ष आता है जब क्षेत्रीय अस्मिताओं के उभार में राष्ट्रीय-जातीय अस्मिता तेजी से विलुप्त होने लगी । इसी दौरान ऐसी जातियों और जनजातियाँ (दलित-आदिवासी) जो अब तक हाशिये पर ढकेल दी गयी थीं, उन्होंने अपने मानवीय पहचान और अधिकार के लिए अपने-अपने स्तर पर लड़ी जाने वाली लड़ाई तेज की है ।

यह गौरतलब है कि हमारे समाज का एक ऐसा तबका जिसका न कोई इतिहास था और ना कोई पहचान, उसे समाज की मुख्य धारा से उखाड़ फेंक दिया गया था, किन्तु ये तबका अपने अधिकारों के लड़ाई के लिये संघर्ष कर रहा है । यह निश्चित भी है कि इस अस्मिता मूलक संघर्ष में ये विजय भी हासिल करेंगे । हम जानते हैं कि हाशिये पर सदियों से पड़े

TH-20266
Jawaharlal Nehru University Library

इस वर्ग ने अपनी अस्मिता के लिये लड़ी जा रही इस लड़ाई में प्रयोग आने वाले औजारों को धार देना शुरु किया है तो इस समय नैतिकता को अपदस्थ कर छद्मवाद को केन्द्रीय मूल्य बनाने की साजिशें भी रची गयी । आज सभी अपना उल्लू सीधा करने में लगे हुए हैं । कैसे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को ढकेल कर आगे बढ़ जायें, चाहे उस व्यक्ति की जान जाए या उसका नाश हो इसकी परवाह किसी को नहीं है । इन सबकी चपेट में आने वाला आदमी है । रोहिणी अग्रवाल लिखती हैं कि **-"जाहिर है १९९० के बाद का स्त्री-कथा लेखन चहुँओर की मार झेलते इस आदमी की अधूरी हसरतों और सपनों, जमे हुए आँसूओं और चित्कारों, फ़ीके रिश्ते और मुस्कुराहटों, धुंधली पहचानों और हौसलों की गाढ़ी तस्वीर है । तस्वीर जो आईना बनकर आगे-पीछे की वक़्ती सच्चाईयों को अधिक प्रखरता से उभार देती है । तस्वीर जिसमें बाजारवाद, स्त्री-विमर्श, दलित-विमर्श, जातिगत-साम्प्रदायिक वैमनस्य, अमानवीय व्यवस्था के अलग-अलग रंग और शेड्स हैं और रंगों के चक्रव्यूहीय खेल में घिरा खड़ा है आम-आदमी ।"**[१२] हमारे समाज की यह कटु सच्चाई है कि जितनी भी कूटनीति चालें चली जाती हैं चाहे वो राजनैतिक स्तर पर हो, या सामाजिक स्तर पर उसमें नुकसान आम-आदमी का ही होता है ।

इस दौर के स्त्री कथा लेखन ने आम-आदमी की समस्याओं के साथ-साथ देश की आर्थिक व्यवस्था के संकट पर भी लेखनी चलाई । उसकी सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि यह रही है कि उसने संकट के भीतर से सर्जनात्मकता और आत्मविश्वास की संभावनाओं को चुनकर मानवीय पहचान के लिए पूरी सामाजिक व्यवस्था को चुनौती दी है । ऐसा संकट जब देश की अर्थव्यवस्था के चरमराने से सम्पूर्ण जनमानस में एक हड़कम्प मच गया था । विदेशी मुद्रा संकट से छुटकारा पाने के लिए आर्थिक सुधारों के तहत वैश्वीकरण ने बहुराष्ट्रीय निगमों के साथ बाजार के विस्तार को देश की ऐसी जनता पर लाद दिया जिसके पास न खाने को ठीक से रोटी थी और न ही अच्छी शिक्षा । आम-आदमी पूंजीवाद के दलदल में फंसता ही गया । आज की स्त्री रचनाकारों ने समाज में घट रहे सभी पहलुओं पर अपनी दृष्टि डाली है । इन सबका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि उनके लेखन में पारिवारिक समस्याओं, घरेलू समस्याओं, पति-पत्नी संबंध के साथ-साथ देश की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक हलचलों को अपने लेखन का विषय बनाया है ।

१९९० के बाद की लेखिकाओं में जया जादवानी, अलका सरावगी, सारा राय, लवलीन, गीतांजलि श्री, अंजलि काजल, दूर्वा सहाय और इक्कीसवीं सदी के पहले दशक की लेखिकाओं में कविता, नीलाक्षी सिंह, अल्पना मिश्र, पंखुरी सिन्हा, शर्मिला बोहरा जालान, मनीषा कुलश्रेष्ठ आदि महत्वपूर्ण हैं । इन सभी स्त्री रचनाकारों ने जिस मिशन, संयम और धीरज से स्त्री सरोकारों को भिन्न-भिन्न कोणों एवं संदर्भों में प्रस्तुत किया है, उसमें स्वत्व और अधिकारों की प्रत्यक्ष और पुरजोर मांग तो प्रतिलक्षित नहीं होती है किन्तु इसके बावजूद ये व्यवस्था के हृदयहीन अमानवीय स्वरूप का कच्चा-चिट्ठा अवश्य खोलते हैं ।

आज इक्कीसवीं सदी में अस्मितामूलक विमर्श का सिलसिला चला है । इस सदी में अस्मिता और संबंधों के पुनर्संयोजन की वैचारिक लड़ाईयाँ बड़े ही सकारात्मक ढंग से लड़ी जा रही हैं और नई उपलब्धियाँ नए जीवन मूल्यों के रूप में परिभाषित की जा रही हैं, लेकिन इतना तो निश्चित है कि स्त्री लेखन की भूमिका नए युग का नया भाष्य रचने में कहीं भी कम नहीं है ।

स्त्री-लेखन परिवार एवं भविष्य की सुरक्षा की चिंता में डूबी स्त्री का एक दायित्व है, इसलिए अपने से हटकर वह अपने परिवेश को स्वस्थ और समुन्नत बना डालना चाहता है । स्त्री-लेखन ने राजनीतिक नीतियों के दुष्परिणामों का मानवीय सन्दर्भों में आकलन किया है । अन्तर्राष्ट्रीय पहलुओं के साथ-साथ राष्ट्रीय-राजनीतिक-सांस्कृतिक-धार्मिक-भौगोलिक पहलुओं पर चंद्रकान्ता ने अपने उपन्यास 'कथा सतीसर' में विचार किया है । गीताजंलि श्री अपने उपन्यास 'हमारा शहर उस बरस' में साम्प्रदायिकता जैसी बीहड़ समस्या से टकराकर धर्म की अंधी जुनून भरी ताकतों द्वारा बुद्धिजीवियों और शिक्षण-संस्थाओं को परिचालित करने की क्षमता के भीतरी कारणों की पड़ताल करती हैं । हमारे समाज में बहुत ही हेय दृष्टि से देखे जाने वाले वर्ग 'वेश्यावृत्ति' पर भी आज की स्त्री रचनाकारों ने अपनी लेखनी चलाई है । मधु काकंरिया ने अपने उपन्यास के जरिये (सलाम आखिरी) एक बेहद ज्वलंत विवादास्पद मुद्दे को प्रश्न के रूप में उठाया है कि स्त्री संगठनों द्वारा वेश्यावृत्ति को 'उद्योग' और वेश्या को यौनकर्मी और श्रमिक का दर्जा दिये जाने की मांग क्या न्याय संगत है ?

यौन शोषण एक ऐसी घटना है जिससे आए दिन एक न एक स्त्री को इसका शिकार होना

पड़ता है । हमारी भारतीय संस्कृति ऐसी है कि जिसने भले ही पुरूष की कामलिप्सा को, उसकी अनंत ऊर्जा को उसका अंतः स्रोत माना है तथा इसके चलते उसे उन्मुक्त यौनाचरण की छूट दी है ।

किन्तु स्त्री-लेखन तार्किक ढंग से इन सवालों के जवाब की मांग करता है । महिला रचनाकारों ने पितृसत्तात्मक व्यवस्था के इसी क्रूर चेहरे को बेनकाब करने के लिए अपनी रचनाओं में यौन-शोषण की समस्या को उठाया है । जिसमें प्रभा खेतान का 'छिन्नमस्ता' और चित्रा मुद्गल का 'आँवा' प्रमुख रचना है । जाहिर है आज का अस्मिता विमर्श परम्परागत सौन्दर्यशास्त्र को जो सदियों से अपनी दकियानूसी मानसिकता को लेकर चला आ रहा था, उसे ख़ारिज कर संघर्ष के शास्त्र को प्रतिष्ठित करना चाहता है ।

स्त्री-मुक्ति आज स्त्री विमर्श का एक केन्द्रीय मुद्दा बन गया है । जिस पर स्त्री एवं पुरूष रचनाकारों ने अपनी-अपनी बेबाक टिप्पणियाँ की हैं । रमणिका गुप्ता का स्त्री मुक्ति के संबंध में कहना है कि - **"क्या स्त्री का अपनी अस्मिता का बोध ही उसकी मुक्ति की तरफ पहला कदम है या अस्मिता का अर्थ है - स्त्री में इस एहसास का होना कि वह स्वयं में पुरूष के समकक्ष एक इकाई है । वह गुलाम नहीं, इसलिए उसे समान अधिकार चाहिए । स्त्री को जैसे ही यह एहसास हो जाएगा कि समाज विशेषकर पुरूष, उसके प्रति विवेकमूलक दृष्टिकोण अपनाए, उस पर वर्चस्व न जमाए- वह प्रतिरोध करने का मन बनाने की दिशा में सोचने लगेगी । यह सोच ही मुक्ति का लक्षण है ।"**[13]

वास्तव में आज जिस मुक्ति की बात स्त्रियाँ कर रही हैं वह सही मायने में क्या है ? स्त्रियों को यह तय करना होगा कि उन्हें इस पुरूष समाज से मुक्ति चाहिए या पुरूषों द्वारा बनायी गयी पितृसत्तात्मक व्यवस्था से - जिसमें रोक-टोक, बंदिशें, उनका शोषण, उनकी इच्छाओं का दमन है । जब तक यह निर्धारित नहीं होगा तब तक स्त्री-मुक्ति का सपना एक सपना मात्र-भर रह जाएगा ।

कुछ स्त्री रचनाकारों ने स्त्री-मुक्ति को देह मुक्ति से जोड़कर देखा है । उनका मानना है कि 'देह की मुक्ति' ही स्त्री-मुक्ति है तो कुछ स्त्री रचनाकारों का मानना है कि समाज की सोच और स्त्री की स्थिति यदि बदल जाय तो स्त्री-मुक्ति संभंव हो सकती है । रेखा

कास्तवार इस पर विचार करते हुए कहती हैं कि -**"स्त्री-मुक्ति का अर्थ पुरूष हो जाना नहीं है । स्त्री की अपनी प्राकृतिक विशेषताएं हैं उनके साथ ही समाज द्वारा बनाए गए स्त्रीत्व के बंधंनों से मुक्ति के साथ मनुष्यत्व की दिशा में क़दम बढ़ाना सही अर्थों में स्वतन्त्रता है ।"१४** उनका यह मत वास्तव में स्त्री मुक्ति को सही अर्थों में प्रस्तुत करना है ।

स्त्री-मुक्ति के प्रश्न के साथ-साथ यौन-शुचिता का प्रश्न भी स्त्री-लेखन का प्रमुख विषय रहा है । अपने होने और पहचाने जाने के सवाल को लेकर स्त्री इतनी आक्रांत रही है कि लेखन के प्रारम्भिक दौर में 'सेक्सुएलिटी' पर बात करने का उसके पास अवकाश नहीं था । वास्तविकता तो यह है कि हमारे भारतीय समाज में एक स्त्री को इतनी छूट नहीं थी कि वह इन सब मुद्दों पर बहस या विचार कर सके । हमारे समाज में स्त्री का खुलकर लिखना संभव नहीं था । वह अपनी समस्याओं को अभिव्यक्त नहीं कर सकती थी । यही कारण रहा है कि 'सीमंतनी उपदेश' की लेखिका ने अज्ञात नाम से अपनी पुस्तक लिखी । इसी से हम यह पता लगा सकते हैं कि उस समय हमारे भारतीय पारम्परिक समाज में स्त्रियों की क्या दशा रही होगी ? किन्तु आज की महिला रचनाकारों ने इस परम्परा को तोड़कर यह सिद्ध कर दिया है कि अब वो अपनी समस्याओं को खुलकर समाज के सामने अभिव्यक्त कर सकती हैं । और आज पितृसत्तात्मक समाज के समक्ष यह चुनौती भी है कि उसने यह कर दिखाया है । इस सम्बन्ध में डॉ.शशिकला त्रिपाठी लिखती हैं कि - **"यौन शुचिता को लेकर जिस तरह पारम्परिक भद्र समाज में कट्टरता थी, उसमें शिथिलता का आना सामाजिकता के बदलते रूप को संकेतित करना है । इक्कीसवीं शती की ओर बढ़ते क़दम को अट्ठारहवीं सदी की बेड़ियों से बांधा जना मुमकिन नहीं है ।"१५**

भारतीय समाज में विवाह को एक पवित्र बंधन माना गया है । विवाह स्त्री को सेक्स और सेवा के एवज़ में सुविधाएं प्रदान करता रहा है इसलिए स्त्री से अपेक्षा की जाती है कि सेक्स और सेवा प्रदान करने में वह ईमानदारी बरते । जैसा कि हम सभी जानते हैं कि सामाजिक परम्परा द्वारा स्त्री को यौन स्वतन्त्रता नहीं दी गई है । अगर एक विवाहित स्त्री पर-पुरूष से सेक्स संबंध स्थापित कर ले तो उसे सज़ा मिलती है । इसी कारण स्त्रियों को यौन शुचिता का निर्वाह करना पड़ा है । स्त्री के घर से बाहर आने पर, शिक्षा और नौकरी के माध्यम से पुरूषों से सम्पर्क के अवसर बढ़े हैं एवं विवाह से जुड़ी यौन शुचिता

पर स्त्रियों ने विचार किया है । पुरूषवादी मानसिकता यद्यपि विवाह के लिए एवं सम्बन्धों के लिए आज भी दोहरे मानदण्डों को स्वीकार करती है । परम्परागत दृष्टि के अन्तर्गत विवाह के अन्दर यौन सम्बन्धों को नैतिक और विवाह के बाहर सम्बन्धों को अनैतिक माना जाता रहा है । जन्म विरोध और गर्भपात के साधनों ने शारीरिक सम्बन्धों के जैविक और मानवीय उद्देश्यों पर अलग-अलग ढंग से सोचने की दृष्टि भी प्रदान की है । गर्भाधान के भय से मुक्त होकर स्त्री ने यौन सम्बन्धों पर अपनी दृष्टि और अपनी तुष्टि के हिसाब से भी विचार किया । इन सभी कारणों से विवाह के प्रति स्त्री के दृष्टिकोण में बदलाव आया है और स्त्री की यौन तृप्ति का महत्व भी रेखांकित हुआ है ।

यौन शुचिता के इस प्रश्न ने स्त्री-मुक्ति के विमर्श में अपना स्थान बना लिया है । इस संबंध में सुमन राजे ने 'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास' में विचार करते हुए लिखा है कि-...**"स्त्री-मुक्ति के विमर्श में यौन-मुक्ति का विमर्श भी अनिवार्य जगह पाएगा क्योंकि स्त्री की अन्य गुलामियों में उसकी यौनिक गुलामी भी शामिल है । बल्कि नग्न मर्दवादी सोच में स्त्री योनि ही का पर्याय हो जाती है ।"१६**

आज की स्त्री यौन-शुचिता का आवरण उतार-फेंकना चाहती है । उसे अब अपनी शारीरिक इच्छा की पूर्ति के लिए इस पारम्परिक भद्र समाज का डर नहीं है । मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यास 'चाक' की सारंग और 'झूलानट' की शीलो ऐसी ही नायिकाएं हैं जिसे इस समाज का कोई डर नहीं है । इसी तरह अब 'बेघर' (ममता कालिया) की संजीवनी जैसी भोगकर छोड़ी गई प्रेमिकाएं अकेले असमय बुढ़ा जाने को अभिशप्त नहीं रहीं, वरन् 'आवाँ' (चित्रा मुद्गल) की स्मिता की तरह हाथ और देह को पोंछकर साफ और नई हो जाने के आत्मविश्वास से दीप्त हैं ।"**१७** स्त्री अब पुरानी नैतिकता और मर्यादा का आवरण उतार फेंकना चाहती है, उसे इस चीज का अब कोई क्षोभ नहीं कि वह अपनी मर्जी अनुसार जितना भी और जिसके साथ भी यौन सम्बन्ध बनाए । अभी तक वह इसलिए इस पर विचार नहीं कर पायी क्योंकि ब्राह्मणवादी और पितृसत्तात्मक समाज का उस पर इतना दबदबा था कि अगर वह चाहे भी तो कुछ नहीं कर सकती थी जबकि पुरूष समाज को इस चीज की खुली छूट थी । इसीलिए वह इस पितृसत्तात्मक समाज से पूछना चाहती है कि यौन शुचिता का प्रश्न केवल स्त्री पर ही क्यों दागे जाते हैं ? केवल स्त्री ही इसका निर्वाह

क्यों करे ? पुरूष क्यों नहीं ? क्या स्त्री को अपनी इच्छाओं की पूर्ति करने का अधिकार नहीं है ? स्त्री को अभी तक इसी पवित्रता, नैतिकता और मर्यादा (पितृसत्तात्मक व्यवस्था के झूठे और क्रूर मानदण्डों) के झूठे आचरण का निर्वाह करना पड़ता था किन्तु अब उसमें अपने सामाजिक, राजनैतिक अधिकारों की समझ विकसित हो गई हैं । यही कारण है कि स्त्री-मुक्ति के साथ-साथ यौन-मुक्ति का प्रश्न भी आज के स्त्री-लेखन का प्रमुख मुद्दा है ।

आज का स्त्री-लेखन झूठ की दलदल से निकलकर सच को सूखी सख्त ज़मीन पर नंगा रख देना चाहता है ताकि स्त्री-पुरूष दोनों के लिए उसे पहचानना और अपनाना आसान हो जाए । स्त्री देवी की प्रतिमूर्ति बनकर नहीं रहना चाहती वह स्त्री है उसे एक इन्सान के रूप में समझने के कोशिश करना होगा । इस संबंध में निर्मला जैन लिखती हैं कि -'**स्त्री भी एक इन्सान है, लेकिन अफ़सोस है कि उसे उसके इंसानी हक़ से ही वंचित रहना पड़ा । उसे इंसान के रूप में देखा जाना, समझा जाना ही स्त्री के प्रति जस्टिस होगा ।**' स्त्री-विमर्श के संबंध में उनकी धारणा है- **"स्त्री के हितों को ध्यान में रखकर, स्त्री के साथ जेंडर के आधार पर होने वाले भेदभाव को खत्म करने के इरादे से किया गया विमर्श ही 'स्त्री विमर्श' है । यह साहित्य में भी हो सकता है और साहित्य से इतर भी ।"१८**

इस प्रकार समग्रता में स्त्री-विमर्श का अध्ययन करें तो देखेंगे कि स्त्री-विमर्श अस्मितामूलक आंदोलन है । यह हाशिए पर धकेल दी गयी स्त्री की अस्मिता को पुनः केन्द्र में लाने और उसकी मानवीय गरिमा को पुनर्प्रतिष्ठित करने का महाभियान है । स्त्री विमर्श अपनी मूल चेतना से ही स्त्री को पराधीन बनाने वाली पितृसत्तात्मक समाज-व्यवस्था का विश्लेषण करता है । यह स्त्री को दोयम दर्जे का प्राणी मानने का विरोध करता है और स्त्री को एक जीवंत मानवीय इकाई समझने का संस्कार देता है ।

दलित स्त्री विमर्श

सत्तर के दशक में पश्चिम में नारी आन्दोलन की दूसरी लहर उठी । इसमें जिस तरह से नस्ल के सवाल के प्रति दृष्टिहीनता को लेकर नारीवादियों ने आवाज उठायी थी, उसी तर्ज पर भारत में भी ९० के दशक में कई प्रयास दिखाई दिए जिसमें दलित नारीवादियों ने एक तरफ नारी आन्दोलन में जाति के प्रश्न की उपेक्षा को अपने एजेंडे पर उभारा वहीं साथ ही साथ दलित आन्दोलन के अंदर पितृसत्ता के प्रश्न की अनदेखी को भी निशाना बनाया गया । इस आन्दोलन की नारीवादियों का मानना है कि दलित महिलाएं दो अलग-अलग तरह का पितृसत्तात्मक नियन्त्रण झेलती हैं -एक जाति की शुद्धता पर टिकी अधिक वर्चश्वशाली ब्राह्मणवादी पितृसत्ता का तथा दूसरा अपने समुदाय की महिलाओं को अपनी सम्पत्ति मानते हुए दलित पुरूषों द्वारा उन पर किया गया नियन्त्रण ।

शर्मिला रेगे एक भारतीय समाज विज्ञानी, नारीवादी विद्वान तथा लेखक हैं जो जाति और लिंग (दलित लेखन) आधारित पहलुओं पर लिखती हैं । उन्होंने दलित महिला आन्दोलन की नयी सैद्धान्तिकी पेश करने की कोशिश की है तथा वह इस बात पर जोर देते हुए कहती हैं कि **"पितृसत्ता के भौतिक आधार को उद्घाटित करने के लिए जरूरी है कि विभिन्न जातियों, वर्गों, समुदायों में व्याप्त श्रम, यौनिकता, पुनरुत्पादन के मसले को केन्द्र में लाया जाय ।"**[१९]

दलित स्त्री विमर्श के उदय के पीछे यही कारण रहा है कि अब तक हिन्दी में आये नारीवादी आन्दोलन तथा दलित आन्दोलन ने उसके प्रश्नों को अपने साहित्य में रेखांकित नहीं किया । इसी कारण ये अपना लेखन स्वयं कर रही हैं और दलित स्त्री विमर्श इसी रूप में अपने मुद्दों को लेकर अपनी पहल कर रहा है ।

दलित स्त्री विमर्श भारतीय समाज व्यवस्था की सबसे आखिरी पायदान पर खड़ी दलित स्त्री के रचनात्मक योगदान को रेखांकित करता है । दलित स्त्री को ऐतिहासिक, सामाजिक,

राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, साहित्यिकक्षेत्र से हमेशा बाहर रखा गया है । दलित विमर्श इस पर भी सवाल खड़ा करता है । वह तिहरे शोषण की शिकार दलित स्त्री के दग्ध जीवनानुभवों की अभिव्यक्ति में जाति अपमान, तिरस्कार, यौन हिंसा, पितृसत्ता और गरीबी से मुक्ति के प्रश्नों को भी खड़ा करता है । 'दलित-स्त्री लेखन मनु निर्धारित नैतिकता और पितृसत्तात्मक व्यवस्था का तीखा विरोध करता है । मूल रूप से 'दलित स्त्री विमर्श' व्यक्ति पहचान के संघर्ष में स्त्री-अस्मिता और स्व-अधिकारों का प्रश्न लेकर सांझे समतावादी आन्दोलन में शामिल हुआ है ।'

डॉ.भीमराव अम्बेडकर का मानना था कि -**"हिन्दू समाज उस बहुमंजिला इमारत की तरह है जिसमें प्रवेश के दरवाजे बन्द है तथा जो व्यक्ति जिस मंजिल पर जन्म लेता है उसे उसी में मरना होता है ।"**[२०]

उनके इस कथन को दलित स्त्री के सन्दर्भ में विशेष तौर पर देखा जा सकता है । स्त्री की स्थिति हिन्दू वर्ण व्यवस्था में दलितों की स्थिति के समकक्ष है । किन्तु यह एक बहस का मुद्दा है कि उच्चवर्गीय सवर्ण स्त्री भी क्या दलित की तरह शोषित है और इसी श्रेणी में आती है?

वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में जहाँ अधिकांश रूप से दलित और स्त्री दोंनो ही प्रताड़ना की शिकार हैं, वहीं दलित स्त्री का संघर्ष तिहरा हो जाता है । उसे जाति के नाम पर अपमान, तिरस्कार, यौन हिंसा, पितृसत्ता और गरीबी इन तीनों समस्याओं से एक साथ जूझना पड़ता है । दलित स्त्री जातिगत पहचान की वज़ह से प्रगति नहीं कर पाती है । आर्थिक रूप से कमजोर होने के कारण वह दर-दर काम की तलाश में भटकती है । भूख से बेहाल, स्त्री होने के कारण घर और बाहर होने वाली अवहेलना, अपमान और पीड़ा से उसे गुजरना पड़ता है । इन सभी पहलुओं का यथार्थ चित्रण दलित स्त्री ने अपने लेखन के माध्यम से किया है ।

डॉ.भीमराव अम्बेडकर ने जिस संविधान का निर्माण किया था उसमें स्त्री को समता और समानता का अधिकार दिया गया है । किन्तु आज़ादी के कई वर्ष बीत जाने पर भी दलित स्त्रियों को अपने अधिकारों से वंचित रखा गया । आज भी हमारे समाज में मैला उठाने की

प्रथा वैसे ही चली आ रही है, जाति के नाम पर शोषण और अत्याचार भयावह रूप धारण करते जा रहे हैं । दलित महिलाओं की समस्या न केवल ज्यादा है बल्कि दारूण भी है क्योंकि दलित भारतीय समाज का सबसे ज्यादा उत्पीड़ीत तबका रहा है । शैक्षिक स्तर पर दलित स्त्रियां अभी भी पिछड़ी हुई हैं । सामाजिक स्तर पर अभी भी अछूत हैं, आर्थिक रूप से कमजोर हैं । इन सभी दृष्टियों से दलित महिला सीढ़ी की सबसे निचली पायदान पर है जहाँ गरीबी, अशिक्षा, जातिगत भेदभाव के अलावा अनेक प्रकार के शोषण उसकी नियति बना दी गयी है ।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक रूप से दलित नारी को मानवाधिकारों से दूर रखा गया है । नृशंसता का शिकार भी सबसे अधिक दलित महिलाओं को ही होना पड़ता है । बलात्कार एक ऐसी जघन्य समस्या है जिसका शिकार गैर-दलित महिलाएं भी होती हैं, किन्तु दलित महिलाओं को इसका शिकार अधिक होना पड़ता है क्योंकि एक तो ये मजदूरी के लिए तथाकथित उच्च जातियों पर निर्भर होती हैं और इसी कारण तथाकथित उच्च जातियों के पुरूषों द्वारा इन्हें भोग की दृष्टि से देखा जाता है । आर्थिक दृष्टि से निर्भरता और सामाजिक सुरक्षा के अभाव में दलित स्त्री उच्च जाति के लोगों की काम वासना का शिकार अधिक होती है । विमल थोरात एक सर्वे के आधार पर इसको स्पष्ट करती हैं - **"१९८१ से १९८६ तक बलात्कार की शिकार दलित महिलाओं की संख्या लगभग ४,००० थी यानी की प्रत्येक वर्ष लगभग ३५० अर्थात हर दिन एक । सन् १९९३ में यह संख्या बढ़कर ७९८ हो गई और १९९४ में ९९३ यानी रोज दो बलात्कार । उत्तर प्रदेश और राजस्थान में ये घटनाएं अधिक हुई ।"२१** आर्थिक रूप से कमजोर दलित स्त्रियां सवर्ण जमीदारों पर इस प्रकार की निर्भरता के कारण नृशंसता का शिकार हो जाती हैं ।

दलित महिलाओं को वह सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक सुरक्षा अभी तक नहीं मिल पाई है जो आज सवर्ण महिलाओं को जाति के आधार पर परंपरागत रूप से प्राप्त है, दलित स्त्री एवं सवर्ण महिलाओं का शोषण वास्तव में अगर पूरी तरह नहीं तो एक हद तक अलग जरूर है । दलित स्त्री को अस्पृश्यता की तपिश गरीबी व पितृसत्ता की मार को एक साथ झेलना पड़ता है जबकि गैर-दलित स्त्री को सिर्फ आर्थिक और यौन शोषण झेलना पड़ता है । जाति के आधार पर सवर्ण महिलाओं को शोषित नहीं किया जाता

है इस प्रकार वह जाति की भयावह पीड़ा और दंश से बच जाती हैं ।

भारतीय सामाजिक संरचना में जाति एक बहुत बड़ा सच है । विद्वेष और वैमनस्यता के विकास में इसने प्रभावपूर्ण भूमिका निभाई है । यही कारण है कि इसका दंश और उत्पीड़न केवल दलित महिलाओं को झेलना पड़ता है । हम चाहे जितना भी कह लें कि जातिगत समस्याएं समाप्त हो चुकी हैं और लोगों के अन्दर अब जातिगत भेदभाव नहीं है, यह नष्ट होता जा रहा है किन्तु सच्चाई यह नहीं है । जाति अपनी जड़ें और गहरे रूप से जमाती जा रही है । इसलिए आज भी गावों में अस्पृश्यता के कारण बहुत सी महिलाओं को डायन करार दे कर नंगा घुमाया जाता है । उनकी झोपड़ियां और बस्तियां जला दी जाती हैं । डॉ.प्रकाश लुईस और कमलकांत जब यह लिखते हैं तो **"भंवरीबाई का संदर्भ ताजा हो जाता है जो मर्दवाद और वर्णवाद दोंनो का शिकार रही । दलित महिलाओं पर हुए अत्याचारों की घटनाओं में भंवरीबाई की घटना ऐसी है, जिसे राजस्थान के जाति अंहकार के इतिहास में दर्ज किया जा सकता है ।"२२** आज झज्जर, गोहाना, खैरलांजी के दलितों को इस आजाद भारत में जातिवादी प्रवृत्तियों की बदौलत उत्पीड़न और तिरस्कार का शिकार होना पड़ता है । दलित महिलाओं को जाति-पहचान के कारण भेदभाव और सामाजिक बहिष्कार का सामना करना पड़ता है । भेदभाव से जुड़ी क्रूरता के जातिदंश इत्यादि के अनुभव ही दलित महिलाओं को सवर्ण महिलाओं के अनुभव से अलग करते हैं ।

हमारे भारतीय समाज में दलित महिलाओं की स्थिति सवर्ण महिलाओं की अपेक्षा अधिक दयनीय और शोचनीय है, यहाँ तक कि पाशविक भारतीय समाज का यह महत्वपूर्ण वर्ग आज भारत की आज़ादी के कई सदी बीत जाने पर भी दलितों का दलित बना हुआ है । दलित महिलाओं की इस दुर्दशा के पीछे सबसे बड़ा कारण हिन्दू धर्म में अंधविश्वास एवं रूढ़ियों का होना है । मनु को हिन्दू धर्म का संस्थापक माना जाता है, जिसने हिन्दू धर्म में ब्राह्मणवादी एवं पारंपरिक मान्यताओं को स्थापित किया । उसने स्त्रियों तथा शूद्रों को उनके विशेष अधिकारों से हीन रखा । 'मनुस्मृति' में मनु ने स्त्री की स्वाधीनता को अस्वीकार किया है और स्त्री देह की पवित्रता को स्त्री की उच्च, उत्कृष्ट दैवीय छवि की अनिवार्य शर्त बताया है । इसीलिए पितृसत्ता ने स्त्री पर वर्चस्व के लिए परिवार संस्था की अक्षुण्णता और सामाजिक संरचना के स्थायित्व की मुख्य शर्त में स्त्री की यौन शुचिता को

रखा है । भारतीय समाज में पितृसत्ता की प्रधानता के कारण स्त्री को हमेशा निम्न माना गया है । दलित नारी का शोषण यहीं पर होता है । दलित पुरूष भी मनु की आचार संहिता को ही अपने घर में अपनी पत्नियों पर लागू करते हैं । इस सन्दर्भ में मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं कि "**जहाँ तक दलित समाज में दलित स्त्रियों का प्रश्न है तो पूरे भारतीय समाज और मानव समाज में पुरूषों और स्त्रियों के बीच शासक और शासित का जो सम्बन्ध रहा है वही दलित समाज में दलित पुरूषों और स्त्रियों के बीच में है । लेकिन दलित, स्त्रियाँ श्रम की प्रक्रिया में सीधे भाग लेती हैं इसलिए दूसरे समुदाय की तुलना में अधिक स्वतन्त्र होती हैं । इसके बावजूद दलित स्त्रियाँ पुरूष की पराधीनता की शिकार होती हैं ।"* (मैनेजर पाण्डेय- मैं भी मुँह में जबान रखता हूँ, यश पब्लिकेशन, प्रथम संस्करण, पृष्ठ संख्या-१७४**) । इसी कारण दलित स्त्री विकास के मार्ग तक नहीं पहुँच पाती है ।

विवाह संस्था की दमनकारी संरचना स्त्री को आर्थिक सुरक्षा देने से इनकार करती है क्योंकि यही आर्थिक अधीनता स्त्री पितृसत्ता पर निर्भरता सुनिश्चित करती है । पितृसत्तात्मक व्यवस्था में परिवार का मुखिया पुरूष होता है किन्तु परिवार की सम्पूर्ण जिम्मेदारी स्त्रियों पर ही होती है । दलित स्त्रियां ज्यादातर श्रमशील होती हैं । परिवार का भरण-पोषण करने के लिए दिनभर घर से बाहर जाकर मजदूरी करती हैं । इसके बावजूद घर की भी पूरी जिम्मेदारी उनके ही हाथों में होती है । फिर भी वे अपने पति के हाथों पिटती हैं । इस प्रकार उसे अपने समाज में उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है । जैसा कि हम जानते हैं कि दलित चिन्तक डॉ.धर्मवीर ने दलित स्त्रियों पर आरोप लगाते हुए अपने लेख दलितों का दर्शन क्या हो में लिखा है कि **"दलितों को दूसरी कौमों से संघर्ष में पहले अपने घरों को जरूर देखना है । आखिर दलित जातियां दूसरी जातियों से मुक्ति किस-किस रूप में प्राप्त करना चाहती हैं ? दूसरी जातियों के पुरूषों से अपनी बहू-बेटियाँ की रक्षा की बात बहुत जरूरी है । पर तब क्या किया जाये, जब इनकी बहू-बेटियाँ खुद दूसरी जातियों के पुरूषों के साथ भागना चाहती हों ? इसी दूसरी बात के लिए दलित स्त्रियों पर नियंत्रण रखना जरूरी है । दलित एक जाति के रूप में अब तक इस काम में चूकते रहे हैं । इसी से इनकी औरतें स्वतंत्र होने के बजाय उच्छृंखल हो जाती हैं । वे परपुरूषों के साथ व्यभिचार कर बैठती हैं ।"२३**

डॉ.धर्मवीर का दलित स्त्रियों पर यों आरोप लगाना स्वयं और पूरे स्त्री समाज और खासकर दलित समाज की स्त्रियों से खतरा मोल लेना था । यह बात किसी भी स्त्री को चाहे वो दलित या गैर-दलित, उचित नहीं लगी कि "दलित स्त्रियां संस्कार से व्यभिचारी हैं ।" रमणिका गुप्ता, प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा और दलित स्त्रियों में विमल थोरात, अनीता भारती, रजनी तिलक, कौशल्या बैसंत्री ने इसके प्रतिउत्तर में उन्हें खरी खोटी सुनायी । विमल थोरात ने उन पर मनुवाद का नया संस्करण स्थापित करने का आरोप लगाया, तो 'मानव विरोधी और फासिस्ट सोच' लेख में सुदीप्ति उन्हें मनुवाद के मानदण्डों पर खरा उतरना बताती हैं और कहती हैं कि - **"डॉ.धर्मवीर एक तरह से नारियों के ऊपर से ब्राह्मण मनुवादियों का शिकंजा हटाकर दलित मनुवादियों का शिकंजा कस देना चाहते हैं ।"२४**

रमणिका गुप्ता उन्हें आड़े हाथों लेते हुए लिखती हैं कि - **"धर्मवीर स्त्री नैतिकता का तालिबानीकरण कर रहे हैं । स्त्री के विषय में अभी उनकी सोच मनुवादी और हिन्दुवादी है, जो मानवता का नकार है । धर्मवीर व्यभिचार पर इतना जोर दे रहे हैं और गोहाना तक को भूले जा रहे हैं । वैसे भी व्यभिचार शब्द सापेक्षिक है । व्यभिचार शब्द विवाह प्रथा से पहले था ही नहीं । नियम, मनुष्य द्वारा मनुष्य के लिए बनाए जाते हैं, नियमों के लिए मनुष्यों को नहीं बनाया जाता ।.....दलित आंदोलन का एजेंडा अस्मिता-स्वाभिमान, बराबरी, आज़ादी और भाईचारा है या व्यभिचार बनाम सदाचार? उनका एजेंडा गोहाना होगा- दलित औरतों को नंगा कर निकाले गये जुलूसों की खिलाफ़त होगी- या डी.एन.ए टेस्ट ? ..... यह हिन्दू मनुवादी दृष्टि है-पुरूषवादी दृष्टि है- मानवीय दृष्टि नहीं । दलित दृष्टि तो ये कदापि नहीं हो सकती । दरअसल धर्मवीर अभी तक हिन्दुवाद और मनुवाद से मुक्त नहीं हुए हैं ।"२५**

वास्तव में दलित आंदोलन ब्राह्मणवाद, मनुवाद, हिन्दुवाद तथा जातिवाद के विरूद्ध शुरू हुआ था, किन्तु डॉ.धर्मवीर फिर से उसे दलित साहित्य में स्थापित करने का प्रयास कर रहे हैं । इस प्रकार से तो वो जाति को और मजबूत करने का प्रयास कर रहे हैं । जबकि दलित साहित्य का यह उद्देश्य रहा है कि इस समाज में जातिव्यवस्था का समूल रूप से नाश हो और सभी समता, बंधुता के साथ परस्पर रूप से रहें ।

इधर अलग से जो दलित स्त्री विमर्श की गूंज सुनायी दे रही है उसके अपने कुछ खास मुद्दे हैं । उनका मुद्दा यह है कि उनकी पीड़ा, अपमान, यातना और शोषण के इतिहास को न तो सवर्ण स्त्रियां उठा रही हैं और न ही दलित पुरूष उठा रहे हैं । यही कारण है कि दलित स्त्रियां अपनी पीड़ा के अनुभवों और शोषण के इतिहास को अपने शब्दों में स्वयं रच रही हैं । इसके लिए दलित स्त्रियां स्वयं आत्मकथा लेखन कर रही हैं जिसमें उनकी पीड़ा, यातना, जाति के भयावह दंश आदि के शोषण का सच्चा इतिहास है । कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथा-'**दोहरा अभिशाप**', बेबी कांबले का '**जीना आमुचा**', ऊर्मिला पवार का '**छोरा कुल्हाटी** का' तथा अभी हाल में प्रकाशित सुशीला टाकभौरे का '**शिकंजे का दर्द**' आदि दलित महिला रचनाकारों की प्रमुख आत्मकथा है ।

दलित महिला रचनाकार अपनी रचनाओं में मनु द्वारा लादी गई पुरूष वर्चस्व की सत्ता के विरोध में सवाल उठाती हैं । जाति, लिंग और वर्ग आधारित तिहरे शोषण को झेलती दलित स्त्री उन विषमताओं और नैतिक मूल्यों को नकारती हैं जो पुरूष के लिए अलग मापदण्ड और स्त्री के लिए अलग मापदण्ड प्रस्तुत करते हैं ।

दलित लेखन की आवश्यकता इसलिए पड़ी क्योंकि सामान्य लेखन ने दलित लेखन की लगभग पूरी तरह से उपेक्षा की । उसी प्रकार दलित स्त्री लेखन का भी होना जरूरी था क्योंकि सवर्ण स्त्री लेखन में दलित स्त्री का कोई महत्व नहीं था और उसके संघर्ष तथा अधिकारों को कोई जगह नहीं दी गई थी । दलित स्त्री लेखन तिहरे शोषण की शिकार स्त्री की यातना का उल्लेख करता है । सवर्ण स्त्रियों ने इस विमर्श को विमर्श मानने से ही इनकार कर दिया । इस कारण यह विमर्श और उग्र होता गया ।

हिन्दी साहित्य में कई लेखिकाएं इस विमर्श हेतु अपनी लेखनी से समाज को अवगत करा रही हैं । दलित स्त्री लेखन अपनी अस्मिता को लेकर संघर्ष करता है । अभी तक सामान्य स्त्री लेखन और दलित लेखन में उसकी अस्मिता और संघर्ष की अवहेलना की गयी थी किन्तु दलित स्त्रियों ने अपने लेखन के माध्यम से इसे सामने लाया ।

दलित स्त्री लेखन ने सामान्य स्त्री विमर्श से अलग दलित विमर्श की आवश्यकता के पक्ष में मजबूत तर्क दिए हैं । उनका कहना है कि ऊँची जाति के लोगों द्वारा दलित महिलाओं

पर अत्याचार, उनको नंगा घुमाना आदि नारी आंदोलन के व्यापक मुद्दे कभी नहीं बने । नारीवादी विचारकों का मानना है कि जाति का सवाल उनके आन्दोलन को तोड़ देगा जबकि दलित महिलाओं का मानना है कि दलित महिलाओं को जोड़ने से ही नारीवादी आंदोलन और सशक्त बनेगा ।

आज हम महिला आरक्षण की बात करते हैं । हमें यह भी पता है कि संसद में ३३ फीसदी महिला आरक्षण पास होने की बात की जा रही है । किन्तु प्रश्न यह है कि अगर यह विधेयक पास हो जायेगा तो इससे किस वर्ग की स्त्रियों को सबसे ज्यादा फायदा होगा? इसी बहस में यह विधेयक अभी भी अटका पड़ा है ।

इस संबंध में दलित स्त्रियों का मानना है कि वे पहले से ही पिछड़ी हुई हैं और उनकी चिंता यह है कि अगर यह विधेयक पास हो गया और उनको हिस्सा नहीं मिला तो वे मूलधारा से पिछड़ जायेंगी । यहाँ पर सामान्य स्त्री के भीतर बहुत सफाई से दलित लेखिकाएं अपने दलित विमर्श के अस्तित्व को रेखांकित करती हैं । उनकी चिंता अगर इस बात के लिए है कि तो सही भी है क्योंकि सदियों से ऐसा ही होता आया है । एक सवर्ण स्त्री अपनी जातिगत भावनाओं के कारण एक दलित स्त्री को वैसे ही प्रताड़ित करती है जैसे एक सवर्ण पुरूष दलित पुरूष को प्रताड़ित करता है । इन सभी मुद्दों को दलित स्त्री रचनाकारों ने अपने लेखन में अभिव्यक्ति दी है ।

हिन्दी दलित स्त्री रचनाकारों में सशक्त रूप से लेखन विमल थोरात, सुशीला टाकभौरे, हेमलता महिश्वर, रजत रानी मीनू, रजनी तिलक, सुमित्रा मेहरौल, नीरा परमार, अनीता भारती, कावेरी आदि कर रही हैं ।

इस प्रकार समग्रता में आज दलित साहित्य के बरअक़्स दलित स्त्री विमर्श को एक चुनौती के रूप में देखा जा सकता है । दलित महिला लेखकों की यह घोषणा है कि इससे पहले रचा गया सामान्य स्त्री लेखन हो या दलित साहित्य हो उसमें दलित स्त्री जीवन के उत्पीड़न, संताप और प्रतिरोध की गाथा को दरकिनार किया गया है । जबकि दलित साहित्य संपूर्ण मनुष्य समाज की मुक्ति, समता, स्वतन्त्रता और बंधुता का मूलमंत्र लेकर चलता है ।

दलित विमर्श

भारतीय समाज में वर्ण एवं जाति व्यवस्था बहुत ही गहरे रूप से प्रभावित है । यह दलित साहित्य की संरचना का वह प्रस्थान बिन्दु है जिस पर आधुनिक दलित विमर्श टिका हुआ है । वर्ण एवं जाति केन्द्रित इस असमान सामाजिक व्यवस्था का विरोध करने वालों में गौतम बुद्ध प्रथम व्यक्ति थे । उन्होंने इसे मनुष्य के विकास के लिए सबसे बड़ा अभिशाप माना । उनकी मान्यता थी कि सभी मनुष्य बराबर हैं और जाति अथवा जन्म के आधार पर उनमें कोई भिन्नता नहीं होनी चाहिए ।

हिन्दी में आज जिस दलित विमर्श की चर्चा हो रही है उसका सबसे पहले प्रस्फुटन सन् आठ के दशक में महाराष्ट्र में हुआ । इसका उल्लेख हमें मराठी साहित्य में मिलता है । दलित साहित्य का आविर्भाव सामाजिक दायित्व और प्रतिबद्धता के साथ हुआ है । यह प्रतिबद्धता डॉ.भीमराव अम्बेडकर के नेतृत्व में चलाए गए दलित मुक्ति आंदोलन के साथ है । इस आंदोलन का उद्देश्य सदियों से चली आ रही अस्पृश्यता की परंपरा, दासता, मूलभूत अधिकारों से वंचित रखने वाली धार्मिक रूढ़ियों का विरोध करके दलितों को एक मानव के रूप में उसे मूलभूत अधिकारों को दिलाना तथा उनमें अस्तित्व और अस्मिता की चेतना को जगाना था । यह आंदोलन दलित अस्मिता का आंदोलन है और दलित साहित्य इसी की एक कड़ी है । अभी तक दलितों को मुख्यधारा से निकाल कर हाशिए पर रखा गया था, किन्तु दलितों ने अपना साहित्य रचकर यह सिद्ध कर दिया है कि वो भी मुख्यधारा में आ सकते हैं और उनका साहित्य भी मुख्यधारा का साहित्य होना चाहिए । उनका साहित्य कल्पना का साहित्य न होकर जीवन के यथार्थ का दस्तावेज है । दलित साहित्य प्रतिबद्धता के साथ सड़ी-गली परंपराओं का विरोध करता है । बुद्ध, कबीर, रैदास, ज्योतिबा फुले तथा अम्बेडकर इस साहित्य के प्रेरणा स्रोत हैं ।

महाराष्ट्र में जिस दलित आन्दोलन की शुरूआत डॉ.भीमराव अम्बेडकर ने की, वह उनके सामाजिक, राजनीतिक विचारों के परिणाम स्वरूप जन-जन तक फैला । जाति-व्यवस्था की निरर्थकता और उसकी पीड़ा भोग रहे समाज की भावना को न केवल दलितों ने अपितु पूरे समाज ने स्वीकार किया ।

दलित विमर्श सिर्फ एक जाति का विमर्श नहीं है । यह आम धारणा है कि दलित समस्या को लेकर लिखा गया विमर्श ही दलित विमर्श है । यह धारणा गलत है । दलित विमर्श के केन्द्र में दलित समस्यायें निहित हैं जिसको हम नकार नहीं सकते । किन्तु यह समस्या एक जटिल समस्या के रूप में हमारे समक्ष मौजूद है । इसके केन्द्र में दलित मुक्ति का प्रश्न राष्ट्रीय मुक्ति का प्रश्न है ।

इसलिए दलित विमर्श के केन्द्र में वे सारे सवाल है, जिनका संबंध भेदभाव से है, चाहे भेदभाव जाति के आधार पर हो या फिर धर्म के अधार पर हो, लिंग के अधार पर हो या फिर धर्म के आधार पर क्यों न हो।

डॉ.भीमराव अम्बेडकर का जाति के संबंध में मानना था कि **'जाति एक ऐसा राक्षस है जो आप कहीं भी और किसी भी दिशा में जाएं, वह आपका रास्ता जरूर काटेगा । अतः जब तक इस राक्षस को मार नहीं दिया जाता है, तब तक न तो कोई राजनैतिक सुधार किया जा सकता है और न ही आर्थिक सुधार किया जा सकता है ।'**

आज दलित विमर्श अपने सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक अधिकारों की बात करता है । प्रश्न है कि- भारतीय समाज में अगर वास्तव में मनुष्य बराबर है और समान अधिकारों की बात की गयी है तो उनको इन सभी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक अधिकारों से बेदखल क्यों किया गया? उन्हें शिक्षा का अधिकार क्यों नहीं मिला, उन्हें घृणित काम करने पर क्यों मज़बूर किया गया? आज दलित अपने अधिकारों की लड़ाई के लिए संघर्ष कर रहा है और उनका मानना है कि उन्हें भी ये सभी अधिकार मिलने चाहिए ।

समकालीन हिन्दी साहित्य में दलित लेखक अपने सवालों और संस्कारों के साथ साहित्य की दुनिया में आया है । अभी तक उसके लिए सारे दरवाजे बंद थे, उसने उन पर जोर दार

तरीके से दस्तक दी है। यही कारण है कि दलित अपना साहित्य स्वयं रच रहे हैं । उनकी पीड़ा, दुःख, दर्द, शोषण आदि का भयावह यथार्थ उनकी रचना कविता, कहानी, नाटक, आत्मकथा, उपन्यास आदि में अभिव्यक्त हो रहा है । अब तक जिन महत्वपूर्ण दलित कवियों की रचनाएं प्रकाश में आई हैं उनमें ओमप्रकाश वाल्मीकि का कविता संग्रह **'बस्स बहुत हो चुका' और 'सदियों का संताप', 'अब और नहीं', मलखान सिंह का 'सुनो ब्राहमण', कंवल भारती का 'तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती?', श्यौराज सिंह बेचैन का 'क्रौंच हूँ मैं' और नई 'फसल', जयप्रकाश कर्दम का 'गूंगा नहीं था मैं', डॉ.दयानन्द बटोही का 'यातना की आँख', डॉ.धर्मवीर का 'हीरामन' तथा सुशीला टाकभौरे का 'स्वाति बूंद और खारे मोती', 'यह तुम भी जानो', 'तुमने उसे कब पहचाना', 'हमारे हिस्से का सूरज'** आदि कविता संग्रह है । इन सभी कवियों की कविताओं में हिन्दू वर्ण व्यवस्था से पीड़ित समुदाय की वेदना है जो हिन्दी दलित कविता का मूल स्वर है, जिसका तेवर विद्रोही और प्रतिरोधात्मक है । हिन्दी कविता के अन्य आंदोलनों की तरह दलित कविता का आंदोलन चेतना के स्तर पर बहुत गहराई से जुड़ा है, जिसकी जड़ में हजारों वर्षों का अन्याय, अत्याचार और शोषण का इतिहास है ।

हिन्दी साहित्य में दलित विमर्श का अगर हम राजनैतिक और साहित्यिक रूप देखें तो यह दो विपरीत ध्रुवों की तरह दिखायी देंगे । इस सम्बन्ध में कंवल भारती अपनी पुस्तक 'दलित विमर्श की भूमिका' में लिखते हैं कि **"जिस तरह दलित विमर्श का राजनैतिक विकास हुआ उस तरह से उसका साहित्यिक विकास नहीं हुआ । साहित्य में उसकी तीन धाराएं या श्रेणियां देखते हैं । पहली धारा स्वयं दलित जातियों में जन्में लेखकों की हैं जिनके पास स्वानुभूतियों का विराट संसार है । दूसरी धारा हिन्दू लेखकों की है, जिनके रचना संसार में, "दलितों का चित्रण सौंदर्य सुख की विषय-वस्तु के रूप में होता है ।" तीसरी धारा प्रगतिशील लेखकों की है, जो दलित को सर्वहारा की स्थिति में देखते हैं ।"२६**

इस प्रकार इसके व्यापक परिप्रेक्ष्य पर हम चर्चा कर सकते हैं । पहली धारा वह थी जिसमें कबीर, ज्योतिबा फुले, हीराडोम और अछूतानन्द आदि मुख्य साहित्यकार थे । इस धारा ने एक ऐसी विचार-परंपरा को जन्म दिया जो वेद और वर्णव्यवस्था-विरोधी थी ।

सूरजपाल चौहान, रजनी तिलक, अशोक भारती, सी.बी.भारती, मलखान सिंह, कौशल्या बैसंत्री, रजतरानी मीनू, तारा परमार, विमल थोराट और सुशीला टाकभौरे व सुमित्रा मेहरौल प्रमुख हैं ।

दलित विमर्श जिन उद्देश्यों को लेकर चला आ रहा था आज उसके विपरीत दिशा में ही जाता दिखाई दे रहा है । दलित विमर्श का उद्देश्य अम्बेडकर के दर्शन पर टिका हुआ है- समता, स्वतन्त्रता, बंधुता और संघर्ष । किन्तु स्थितियां ऐसी दिखाई पड़ती हैं कि जातिवाद अपने पैर पसारते ही जा रहा है । जिस जाति को समूल रूप से उखाड़ कर समाज में बंधुत्व को फैलाना था उसके विपरीत जाति अपनी जड़ें फैलाती जा रही है । इसका कारण यह है कि दलित साहित्य में ही कई धाराएं और गुट बन गए हैं । इन गुटों के अपने-अपने मुद्दे हैं ।

दलित साहित्य में जो गुट बने हैं वो स्वानुभूति और सहानुभूति के सवाल को लेकर खड़े हुए हैं तथा उनमें आपसी मतभेद भी दिखायी देते हैं । स्वानुभूति धारा के अन्तर्गत वो दलित विचारक आते हैं जो यह मानते हैं कि दलित ही दलित साहित्य लिख सकता है । दलित जाति में पैदा हुआ कोई भी व्यक्ति अगर साहित्य लिखेगा तो, वह दलित साहित्य माना जायेगा । इसमें धर्मवीर, सूरजपाल चौहान, रजतरानी मीनू, ओमप्रकाश वाल्मीकि आदि दलित लेखक आते हैं । इनमें से कुछ दलित लेखकों ने बौद्ध धर्म को नकारा है । प्रसिद्ध दलित चिन्तक धर्मवीर का मानना है कि **'बौद्ध धर्म दलित साहित्य का अंग नहीं है वह हिन्दू धर्म का अंग है तथा सूरजपाल चौहान का कहना है कि वो बाबा साहेब को मानते हैं बुद्ध को नहीं । इन दलित लेखकों का कहना है कि आज दलित खतरनाक मोड़ पर खड़ा है ।' २७**

इसके विपरीत जो दूसरी धारा है- वो सहानुभूति की है । इसमें वे दलित लेखक आते हैं जो यह मानते हैं कि दलित साहित्य की रचना दलित के साथ-साथ गैर-दलित भी कर सकते हैं । किन्तु उनके लेखन में डॉ.अम्बेडकर का दर्शन और फुले का विचार होना चाहिए । इस धारा के दलित विचारक ऐसे गैर-दलित लेखकों का हार्दिक स्वागत करते हैं । इसमें कंवल भारती, मोहनदास नैमिशराय और विमल थोरात आदि शामिल है । बजरंग बिहारी तिवारी का मानना है कि बुद्ध और अम्बेडकर की प्रेरणा से ही दलित साहित्य का विकास हुआ है ।

दलित साहित्य में जो गुट बन गए हैं वो दलित राजनीति के चलते भी है । जिस तरह से राजनीति में एक- दूसरे की कमजोरी दिखाकर अपना उल्लू सीधा किया जाता है या यों कह लें एक पक्ष दूसरे पक्ष पर कीचड़ उछाल रहा है उसी तरह दलित साहित्य में भी हो रहा है । दलित लेखकों में कुछ लेखक ऐसे भी हैं जो अपने स्वार्थ के लिए और सत्ता तक पहुंचने के लिए इस जातिवादी व्यवस्था को बनाए रखना चाहते हैं । यह ऐसा वर्ग है जो एक तरफ अम्बेडकरवाद से हाथ मिलाए हुए है तथा दूसरी तरफ अपने हितों को साधने के लिए ब्राह्मणवाद से भी हाथ मिला रहा है ।

कंवल भारती सवाल करते हुए लिखते हैं कि **"पहला सवाल अम्बेडकर चिन्तन और दलित चिन्तनधारा का है । मेरा जोर अम्बेडकर चिन्तन पर है जो कम से कम मार्क्स विरोधी नहीं है लेकिन दलित चिन्तन (खास तौर से उत्तर अम्बेडकर दलित चिन्तन) न केवल मार्क्स विरोधी है बल्कि कई मायनों में ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद का समर्थक भी है । यह दलित चिन्तन व्यवस्था परिवर्तन का न इच्छुक है और न इससे इसकी आशा करनी चाहिए । यह आरक्षण और सत्ता में भागीदारी के अधिकार तक सीमित है । इस धारा के दलित चिन्तक चूंकि सत्ता के सहयोगी हैं, इसलिए उनकी भौतिक और भोगवादी दोनों आवश्यकताएं सत्ता अच्छी तरह पूरा करती है ।"**[२८] जो कुछ भी आज दलित साहित्य में हो रहा है कंवल भारती उस दलित चिन्तन की तरफ इशारा करते हैं । आज दलित साहित्यकारों में भी दलित साहित्य लेखन को लेकर जो होड़ चली है उसमें भी कुछ एक तो एक दूसरे के साहित्य को नीचा दिखाने के लिए ही लेखन कर रहें हैं ।

डॉ.अम्बेडकर के सामाजिक चिंतन से ऊर्जा हासिल कर जहाँ तमाम लेखक सामाजिक परिवर्तन में अपना योगदान दे रहें हैं, समाज के मानसिक बदलाव की ज़मीन तैयार कर रहे हैं, वहीं राजनीति और लेखन में उनके नाम को व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं के लिए इस्तेमाल करने वाले भी सक्रिय हैं । जिसके कारण दलित साहित्य की नींव कमजोर होती दिखायी दे रही है और साथ ही साथ वह अपने मूल उद्देश्यों से भी भटक रहा है । जातिवाद को समाप्त कर समतामूलक समाज की स्थापना करना डॉ.भीमराव अम्बेडकर का प्रमुख उद्देश्य था । उन्होंने जाति के सवाल को गंभीरता से लिया था । उनका मानना था कि

'आप जो भी क्रांति करेंगे, जाति का सवाल आपका रास्ता जरूर रोकेगा । अतः जाति के राक्षस को मारे बिना आप कोई सुधार नहीं कर सकते ।'

भारत की सामाजिक व्यवस्था में जो जातियाँ उपजातियों में बंटी हैं- चाहे वह भंगी, चमार, जाट, कुर्मी वाल्मीकि, खटिक हो उनमें आपस में बहुत मतभेद है । जाट खुद को सबसे उच्च मानता है जबकि चमार खुद को भंगी से । ये आपस में ही बंधुता का व्यवहार नहीं रखते । इनमें परस्पर मेल नहीं है । ये आपस में एक-दूसरे को नीची दृष्टि से देखते हैं । इनमें कभी-कभी लड़ाईयां भी होती रहती हैं । मिर्चपुर की घटना इसका सशक्त उदाहरण है । यहाँ के स्थानीय वाल्मीकि और जाट युवाओं में हुई एक लड़ाई वाल्मीकि मोहल्ले पर जाटों के बड़े हमले में तब्दील हो गई । मिर्चपुर की यह घटना कई पहलुओं को खोलती है । वाल्मीकि और अन्य जातियां इसलिए जातीय हिंसा का शिकार होती हैं क्योंकि यहाँ जातीय अस्मिता के प्रश्न बहुत आक्रामक हैं । दलितों ने जब भी अपनी अस्मिता का सवाल खड़ा किया है तब-तब ताकतवर लोगों को परेशानी हुई है । मिर्चपुर की घटना हरियाणा की कोई पहली घटना नहीं है । इससे भी पहले झज्जर और गोहाना में जातिगत हमले हो चुके हैं । इन सभी घटनाओं की वजह से जातीय हिंसा पनपती है । यही कारण है कि पारस्परिक मतभेद के चलते दलित आंदोलन की और दलित विमर्श की दिशा कमजोर हुई है ।

जाति का उन्मूलन करने के लिए दलित आंदोलन ने क्रांति की थी किन्तु इस राक्षस का उन्मूलन दलित आंदोलन भी नहीं कर सका जो जाति के प्रश्न पर सबसे ज्यादा उद्वेलित होता है । दलित राजनीति ने तो इसे और मजबूती प्रदान की है । राजनीति में जाति की इतनी अहम भूमिका है कि डॉ.अम्बेडकर को भी कहना पड़ा कि **'यह समाज के रोम-रोम में बसी हुई है ।'**

किसी भी क्रांति या आंदोलन की सफलता के लिए संगठन की एकता का होना आवश्यक है अगर संगठन में ही मतभेद होने लगे तो उसका असफल होना तय है । यही कारण है कि आज से पहले जितने भी आंदोलन हुए उनमें गुट बन गए थे । दलित साहित्य में भी

संगठन के अभाव के कारण और पारस्परिक मतभेद के कारण कई गुट बन गए हैं । इसलिए दलित विमर्श की भी दिशा दिग्भ्रमित हो रही है ।

किसी भी घटना के घटित होने के पीछे कोई न कोई कारण होता है । स्त्री विमर्श, दलित विमर्श तथा दलित स्त्री विमर्श के आने के पीछे भी महत्वपूर्ण कारण है । अगर भारतीय सामाजिक व्यवस्था में सबको समान दर्जा मिला होता तो आज २१वीं सदी में जितने भी विमर्श चल रहे हैं अपनी अस्मिता को लेकर, उसकी जरूरत नहीं पड़ती । सदियों पहले से दलितों और स्त्रियों को मुख्यधारा से ढकेल कर हाशिए पर रख दिया गया था । आज जब उनमें अपने सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक अधिकारों के लिए तथा अस्मिता को लेकर चेतना आयी है तो इन विमर्शों के रूप में आंदोलन उठ खड़े हुए हैं ।

डॉ.अम्बेडकर का मानना था कि **'अगर गुलाम को उसकी गुलामी का अहसास करा दो तो वह कभी गुलाम नहीं रहेगा ।'** बात यही है कि दलितों और स्त्रियों को अब से पहले अपनी गुलामी का अहसास नहीं था । अभी तक इसे अपना कर्तव्य मानकर वो करते आ रहे थे, किन्तु जब डॉ.अम्बेडकर ने उनके अन्दर चेतना की अलख जगाई तो उन्हें अपनी गुलामी का अहसास हुआ । उससे निजात पाने के लिए उन्होंने क्रांति की दिशा अपनायी और उसके लिए एक आंदोलन का होना जरूरी था ।

यही कारण है कि आज स्त्रियां और दलित अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ रहे हैं । ऐसी लड़ाई जो उनके सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक अधिकारों की अवहेलना के खिलाफ उभरी है । अपनी अस्मिता और पहचान की लड़ाई लड़ रहे हैं ताकि यह समान रूप से उन्हें भी हासिल हो सके । २१वीं सदी के इन अस्मितामूलक विमर्शों के पीछे यही मूल कारण है ।

किन्तु इस लड़ाई के लिए एकजुट होना बहुत जरूरी है । अगर हम गुट बनाकर जीत हासिल करना चाहेंगे तो ऐसा कभी संभव नहीं होगा । गुट बनाकर आज तक जीत हासिल कोई नहीं कर पाया है, उसको हमेशा मात ही खानी पड़ी है । डॉ.भीमराव अम्बेडकर ने भी संगठित होने के लिए कहा था । सभी को संगठित होना होगा । दलितों के साथ-साथ सवर्णों को भी इस बात को समझना होगा । तभी समान रूप से बिना किसी भेदभाव के

इस सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाना सम्भव हो पायेगा । ऐसा समाज जहाँ न कोई जात हो न पांत और न ही पारस्परिक द्वेष । ऐसा समाज जहाँ सभी अमन-चैन की सांस ले सकें । किन्तु हमें पता है कि स्थितियां इतनी जल्दी बदलने वाली नहीं है । फिर भी बदलेंगी क्योंकि परिवर्तन ही जीवन का नियम है ।

"स्थितियां बदलेंगी आहिस्ता

समझेंगे लोग धीरे-धीरे

शनैः शनैः ही सही

हवा का रूख बेशक पलटेगा ।"

संदर्भ ग्रंथ सूची:-

1. महादेवी वर्मा; 'श्रृंखला की कड़ियां', राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९५, पृष्ठ संख्या-६६ ।

2. चित्रा मुद्ग्ल, इण्डिया टुडे, साहित्य वार्षिकी, १९९७, पृष्ठ संख्या-२७ ।

3. रेखा कास्त्वार -स्त्री चिन्तन की चुनौतियां, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृष्ठ संख्या-२५-२६ ।

4. सुमन राजे -हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण-२००६, पृष्ठ संख्या-१४७ ।

5. रोहिणी अग्रवाल -स्त्री लेखन:स्वप्न और संकल्प, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२०११, पृष्ठ संख्या-१०६ ।

6. (लेख) कात्यायनी- महादेवी वर्मा स्त्री होने का अर्थ, इन्द्रप्रस्थ भारती, वर्ष-१८, अंक-४, अक्टूबर-दिसम्बर २००६, पृष्ठ संख्या-७५ ।

7. मधुमती, फरवरी २००९, पृष्ठ संख्या-३९ ।

8. इंडिया टुडे साहित्य वार्षिक, १९९७, 'स्त्री विमर्श पर परिचर्चा' ।

9. वर्तमान साहित्य मार्च-२०११, पृष्ठ संख्या-५३ ।

10. प्रभा खेतान -छिन्नमस्ता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९७, पृष्ठ संख्या-१५ ।

11. प्रमिला कपूर -कामकाजी भारतीय नारी, राजपाल एंड सन्स, नई दिल्ली, १९७८, पृष्ठ संख्या -५९-६० ।

12. रोहिणी अग्रवाल -स्त्री लेखन: स्वप्न और संकल्प, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२०११, पृष्ठ संख्या-२०३ ।

13. वर्तमान साहित्य -स्त्री विशेषांक पर आधारित, मार्च-२०११, पृष्ठ संख्या-५२ ।

14.रेखा कास्तवार -स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृष्ठ संख्या-२५ ।

15.शशिकला त्रिपाठी -स्त्री-मुक्ति बनाम सत्ता-संघर्ष (लेख) उत्तर शती के उपन्यासों में स्त्री, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण-२०००ईसवी, पृष्ठ संख्या-७० ।

16.हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास- सुमन राजे, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण-२००६, पृष्ठ संख्या-३१७ ।

17.रोहिणी अग्रवाल- स्त्री-लेखन : स्वप्न और संकल्प, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२०११, पृष्ठ संख्या ३२२ ।

18.साक्षात्कार-आलोचना से रचना निखरती है -डॉ.निर्मला जैन, हिन्दीलोक, www.hindilok.com ।

19.इकॉनामिक एण्ड पॉलिटिकली वीकली, रियल फेमिनिज़्म एण्ड दलित वूमेन, फरवरी ५/११/२००० ।

20.कुसुम मेघवाल -हिन्दी उपन्यास और दलित नारी, संघी प्रकाशन, १९९१, पृष्ठ संख्या-५ ।

21.विमल थोरात -दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रिब्यूटर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण-२००८, पृष्ठ संख्या-९६ ।

22.अभय कुमार दुबे (सं) -आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२००७, पृष्ठ संख्या -२३४ ।

23.राजकिशोर (सं) -आज के प्रश्न-हरिजन से दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-२००४, पृष्ठ संख्या-१५३ ।

24.कथादेश, जून, २००३, पृष्ठ संख्या-६३ ।

25.रमणिका गुप्ता (लेख) -प्रेमचंद: सामंत का मुंशी: धर्मवीर की तालिबानी नैतिकता की कसौटी पर!, हंस- नवम्बर, २००५, पृष्ठ संख्या-९५ ।

26.कंवल भारती -दलित विमर्श की भूमिका, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण-२००२, पुनर्मूद्रण-२००७, पृष्ठ संख्या-१०२ ।

27.(साभार) डॉ.धर्मवीर -दलित चिंतन में बहस पुनर्जन्म पर होनी है, बयान, अंक-५९, जून २०११, पृष्ठ संख्या-५६ ।

28.कंवल भारती -दलित विमर्श की भूमिका, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, फरवरी-२००२,पृष्ठ संख्या-१३८ ।

तीसरा अध्याय

सुशीला टाकभौरे की कविताओं में स्त्री चेतना

"आज यह खुद्दार औरत
अपने आप को
पहचान गयी है
इसे यूं न सताओ
वरना यह भी
नंगेपन पर उतर आयेगी
तुम्हारे सर्वस्व को नकार कर
तुम्हें नीचा दिखायेगी ।"

-सुशीला टाकभौरे

सुशीला टाकभौरे पहली हिन्दी भाषी दलित कवयित्री हैं जिन्होंने न केवल पुरूष प्रधान समाज में स्त्री-मुक्ति और स्त्री-चेतना से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं पर अपनी लेखनी चलायी है बल्कि दलित समाज के आत्म सम्मान को जागृत करने में भी पहल की है । स्त्रियों और दलितों पर सदियों से जो शोषण और ज़ुल्म हो रहे थे, उन्हें दबाया, कुचला जा रहा था, उनके विरूद्ध विद्रोह और दुश्मनों को ललकारने की चेतना दी है । इसलिए इनकी कविताओं में स्त्री और दलित चेतना दोनों स्वरों की बुलन्द अभिव्यक्ति मिलती है । अपने बचपन से युवावस्था तक जो भयावह पीड़ा, शोषण और यातना का इतिहास रहा है उससे कवयित्री के मानस पटल पर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा । इन्होंने अपने जीवन में जो कुछ भी बुरा देखा, सहा और अनुभव किया, वह समाज की कुत्सित मानसिकता और एक ऐसे वर्ग की तरफ हमारा ध्यान खींचता है जो सदियों से शोषण करता आया है । कवयित्री ब्राह्मणवादी और पितृसत्तात्मक व्यवस्था के दमन और अन्यायों को अभी तक सहती आयी हैं जिसने उनके जीवन में कांटे ही कांटे बोये और उनको सभी तरह की यातनाओं से गुज़रना पड़ा । जिस तरह से भूकम्प आने के पीछे कोई विशेष कारण होता है उसी तरह सुशीला टाकभौरे के दुःख और उनकी वेदना के पीछे लम्बे समय से हो रहे उन पर अत्याचार, उत्पीड़न तथा उनकी अवमानना-अवहेलना विशेष कारण रहे हैं । सुशीला टाकभौरे की कविताओं में आया 'भूकम्प' शब्द कवयित्री के आत्ममंथन, बौद्धिक मंथन, एक बेचैनी तथा उनके मन में चल रहे उथल-पुथल को दर्शाता है । इसी बेचैनी के चलते वह स्थापित व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन लाने की बात करती है । कवयित्री की इस बात को हम नाओमी वुल्फ़ के इस विचार से सहमत होकर देख सकते हैं -अपने प्रति अन्याय एवं शोषण के विरूद्ध स्त्रियों के द्वारा आवाज उठाने की तुलना भूकंप से करते हुए विश्व-प्रसिद्ध चिन्तक नाओमी वुल्फ़ ने १९९१-९२ में लिखा था- **"जिन्होंने 'अर्थक्वेक' का अध्ययन किया है वे जानते हैं कि भूकम्प अचानक नहीं आते, न ही वे ऐसी सम्भावनाएं होती हैं, जिनका अनुमान न लगाया जा सके । वे युगों के विवर्तनिक दबाव का परिणाम होते हैं ।"** पीढ़ियों से दबी-कुचली, दबावों को सहती नारी की मुखरता को नाओमी 'जेण्डर क्वेक' की संज्ञा देती हैं । भूकम्प की घटनाएं कितनी भी हृदयविदारक क्यों न हो, यह पुरानी

जर्जर, गलीज़ व्यवस्था को समाप्त कर नवनिर्माण का मार्ग तो प्रशस्त करती ही हैं ।'१ कवयित्री भी स्त्री के शोषण को भूकम्प से जोड़कर देखती है -

"भूकम्प व्यथा का कारण है

मैं व्यथित होती हूँ

मानव के प्रति मानव के

अमानवीय व्यवहार से

जो भूकम्प-सा

तहस-नहस कर देता है

मानवता के धरातल को ।"२

मनुष्य (पुरूषों) का एक मनुष्य (स्त्रियों) के प्रति अमानुषिक रवैया ही कवयित्री को अन्दर से झकझोर देता है । यह अत्याचार और अन्याय उसे इसके विरूद्ध लड़ने की प्रेरणा देता है । **तुमने उसे कब पहचाना** की भूमिका में सुशीला टाकभौरे लिखती हैं कि- **"चूंकि नारी शारीरिक शक्ति में पुरूष से कम है, लेकिन महत्वाकांक्षा, हौसला, जिद्द, कार्यक्षमता और दिमागी दाव-पेंच की कुशलता में वह पुरूष से बहुत आगे है । विरोध के प्रति, आक्रोश के साथ, अगर वह पूरी तरह जाग जाये तो- जागृत ज्वालामुखी से कम नहीं, फिर सिंहनी और नागिनी की बात तो बहुत कम है -वह आग का दरिया बन सकती है-इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है ।"३** उनका आक्रोश एक ऐसे समाज के लिए है जहाँ उन्हें मनुष्य माना ही नहीं गया । कवयित्री की पीड़ा ने ही उसे अपनी इन गहरी यातनाओं को आवाज़ देने के लिए कविताओं के सृजन की प्रेरणा दी, जिस तरह क्रौंचि की पीड़ा ने वाल्मीकि को सृजन करने की प्रेरणा दी थी । अपनी कविताओं में उन्होंने एक प्रखर स्त्री-चेतना की छवि खींची है । उनका प्रमुख कविता संग्रह **तुमने उसे कब पहचाना, हमारे हिस्से का सूरज** तथा **यह तुम भी जानो** है, जिसमें उन्होंने पारम्परिक स्त्री की छवि को तोड़कर उसके अन्दर साहस, तेजस्विता तथा अपने अधिकारों के प्रति चेतना का समावेश किया है । उनकी कविताओं में आयी स्त्रियां अपने अधिकारों के लिए लड़ती हैं और उनमें कवयित्री अपनी ही झलक देखती है । कवयित्री की स्त्री चेतना उनकी प्रमुख कविताओं जैसे **'तुमने उसे कब पहचाना', 'युग चेतना', 'स्त्री', 'लौटा**

दो मेरा विश्वास', 'आवाहन', 'विद्रोहिणी', 'जल प्लावन करना है', 'आज की खुद्दार औरत', 'औरत नहीं है मजबूर', 'ज्योति दूत बन जाओ' आदि में पूरे विश्वास, आक्रोश, प्रतिरोध उग्र रूप में दिखायी देता है । कवयित्री का यह उग्र रूप उसके जीवन के कटु अनुभवों से ही आया है । किन्तु कवयित्री के अन्दर उस व्यवस्था के प्रति प्रतिशोध की भावना नहीं है जिसने उसे पीड़ा और नरक जैसी ज़िन्दगी जीने पर मजबूर किया, बल्कि उसकी मानसिकता, दृष्टिकोण को बदलना है, जिससे सामाजिक परिवर्तन हो सके ।

अपनी प्रारंभिक कविताओं (वर्ष-१९९३-९४) की शुरूआत सुशीला टाकभौरे ने स्त्री-चेतना से की है । भारतीय सामाजिक संरचना में सदियों से जड़ीभूत पितृसत्तात्मक व्यवस्था में नारी-शोषण, विशेष रूप से दलित, पिछड़ी आदिवासी नारी-शोषण के खिलाफ इनकी कविता मुखर हुई है । सुशीला टाकभौरे एक पढ़ी-लिखी, नौकरीशुदा तथा आत्मनिर्भर स्त्री हैं । वह आर्थिक कठिनाइयों के दौर में अपने पति तथा बच्चों के साथ-साथ ननद और सास का खर्च भी वहन करती आयी हैं । अपनी आत्मकथा **'शिकंजे का दर्द'** में वह लिखती हैं - **"जिस तरह किसी ताकतवर को शिकंजे में जकड़कर उसकी पूरी ताकत को नगण्य बना दिया जाता है, उसी तरह मुझे भी सामाजिक जीवन की मनुवादी विषमता ने, वर्णवादी-जातिवादी समाज व्यवस्था ने शिकंजे में जकड़कर रखा, जिसका परिणाम पीड़ा-दर्द छटपटाहट के सिवा कुछ नहीं है ।"४** सुशीला टाकभौरे ने अपने निजी जीवन में जो कुछ भी देखा-सुना और सहा उसका कड़वा यथार्थ उनकी कविताओं में प्रखरता के साथ दिखायी देता है । उनका मानना है कि एक 'दलित स्त्री' जाति, लिंग और वर्ण भेद के अपमान, तिरस्कार के साथ अन्याय, शोषण से भी पीड़ित है । उनका अपना जीवन भी इस दोहरे-तिहरे सन्ताप से ग्रसित रहा है ।

सुशीला जी की स्त्री चेतना उनकी अधिकतर कविताओं में परिलक्षित होती है जिसमें उन्होंने बरसों की चुप्पी को तोड़ा है । स्त्री, ऊपर से दलित, इन दोनों का अपमान उन्होंने अपने जीवन में सहा । स्त्री होना ही जैसे व्यथा की बात है । उनका मानना है कि **"चाहे हमारा देश हो या विश्व के अन्य देश, हर जगह शोषण, उत्पीड़न का शिकार स्त्री ही रही है । जिस देश में वर्णभेद, जातिभेद की कलुषित परम्पराएं हैं वहां दलित स्त्री शोषण की व्यथा और भी गहरी हो जाती है ।"५**

अपनी प्रसिद्ध कविता **तुमने उसे कब पहचाना** में कवयित्री उस पितृसत्तात्मक समाज से सवाल करती है कि तुम जो स्वयं को साथी और स्वामी का दम भरते हो क्या वास्तव

में तुमने कभी स्त्री की दुःख, पीड़ा और उसकी संवेदना को पहचानने की कोशिश की है?

"साथी का दम भरने वाले

स्वामी

तुमने उसे कब पहचाना ?

क्यों कहते हो नारी को

मानव-समाज का गहना !

****

उपेक्षा की ठंडक और
आक्रोश के तेज़ाब से
नारी व्यक्तित्व को
हमेशा रौंधा जाता है ।"६

दाम्पत्य जीवन में पति और पत्नी को एक-दूसरे का पूरक जीवनसाथी माना जाता है । किन्तु कवयित्री इस बात पर ध्यान आकृष्ट करती है कि केवल साथी कह देने से क्या दोंनो व्यक्तियों की आन्तरिक भावनाएं मेल खाती दिखायी देती हैं ? अगर ऐसा होता तो पुरूष स्त्री को उसके सम्पूर्ण अस्तित्व के साथ स्वीकार करता - सबसे पहले एक मनुष्य के रूप में, किसी की निजी सम्पत्ति के रूप में नहीं । स्त्री को हमेशा पुरूष की 'अर्धांगिनी', 'सहगामिनी' तथा 'अधीना' के रूप में ही देखा जाता रहा है । उसकी निजी पहचान हमेशा नगण्य रही है तभी तो उसका पति उसका स्वामी है जिससे उसका विवाह होता है । वह वास्तव में साथी होने का स्वांग तो रचता है किन्तु अन्ततः वह उसका स्वामी ही होता है और कहलाना चाहता है । स्वामी अर्थात, संरक्षण प्रदान करने वाला, जैसे भूपति, पशुपति । कुल मिलाकर नियंत्रण की डोर जिसके हाथ में हो और स्त्री उसी डोर से बंधी कठपुतली की तरह नाचती रहती है । यहाँ मानव समाज को पुरूष समाज के रूप में देखा गया है और 'गहना' से तात्पर्य आभूषण । वह कहती है आभूषण किसका ? पुरूष समाज की शोभा बढ़ाने के लिए स्त्री गहना है । समाज में

परिवार के जिस संकुचित दायरे में उसके पतिव्रत धर्म की जितनी बार परीक्षा ली जाय उतनी बार पुरूष समाज की शोभा बढ़ती है । पुरूष के मान-सम्मान, परम्परा-मर्यादा का वह जिस हद तक पालन करेगी उसी हद तक पुरूष समाज उसको आभूषण की तरह मानेगा ।

नारी की इच्छाओं का दमन तथा उसकी स्वतन्त्रता का हनन पुरूष समाज अपना अधिकार समझता रहा है । **अनुत्तरित प्रश्न** शीर्षक कविता में कवयित्री अपनी हो रही उपेक्षा का वर्णन करती है । यहाँ कवयित्री का पुरूष (पति) से संवाद है । वह उससे अपने प्रश्नों के उत्तर मांगती है किन्तु वह (पुरूष) मौन है । वह कहती है कि तुम मुझे इतना महत्वपूर्ण नहीं मानते कि मेरे प्रश्न का उत्तर दो? वह बार-बार अपने प्रश्न का उत्तर मांगती है किन्तु वह चुप रहता है । अपने प्रश्न का उत्तर न पाने पर वह स्वयं को हीन महसूस करती है । वह कहती है कि तुम्हारा यह स्वामित्वपूर्ण बड़प्पन का जो भाव है, वह मेरी उन्नति और प्रगति में अवरोधक है, जो मुझे कुछ करने से रोकता है । वर्षों से चली आ रही परम्परा जिसमें स्त्री गूंगी और पंगु थी, उसे तुम बरकरार रखना चाहते हो । पुरूष प्रधान समाज में नारी को पुरूषों के सामने हमेशा नगण्य माना गया है । केवल घर और परिवार की चाकरी करना ही नारी का कर्तव्य है - नारी के प्रति ऐसी सामाजिक मानसिकता नारी को कभी आगे बढ़ने की प्रेरणा नहीं दे सकी । वह कहती है कि तुमने हमेशा मेरी उपेक्षा की है । मेरा भी कोई अस्तित्व है यह तुम नहीं मानना चाहते, यही विचार मुझे कचोटता रहता है -

"तुम्हारा मौन, चिन्तन
स्वामित्वपूर्ण बड़प्पन का भाव
एक आड़ है
मुझे कचोटने लगे हैं
अपने विचार
यह जानकर कि
मैं उपेक्षित हूँ ।"७

पहले कवयित्री अपनी होती आ रही उपेक्षा से आहत और दुःखी थी । किन्तु अब उसने अपनी उपेक्षा को समझ लिया है । अब उसके अन्दर चेतना के बीज प्रस्फुटित हो गए हैं । वह अब सवाल-जवाब करती है कि क्यों अब तक वह उपेक्षित रही है?

आज नारी स्वयं को पहचान चुकी है । अब विचारों की रोशनी में उसका मन दमक उठा है । फिर भी समाज में चली आ रही जो रूढ़ियां हैं उससे वह दुःखी हो जाती है । **आस की पीड़ा** कविता में कवयित्री समाज में बेटियों की दयनीय स्थिति तथा बेटों की उत्कट इच्छा का वर्णन करती है । जो लोग बेटियों को बेटों से कम आंकते हैं वह ऐसी मानसिकता वाले लोगों पर तरस खाती है । वह कहती है कि बेटी के पैदा होते ही उसका भविष्य निर्धारित कर दिया जाता है कि उसे पराये घर में जाना है । तो फिर कैसा रोना रोया जाता है । भारतीय समाज में जितनी भी 'भ्रूण हत्यायें' होती हैं उसके मूल में उसका लड़की होना है । लड़की से माता-पिता का वंश तो चलता नहीं ऊपर से पालन-पोषण, शिक्षा, विवाह-दहेज का खर्च उन पर पड़ता है । लड़की का जीवन घर, परिवार और समाज के लिए भी बहुत उपयोगी नहीं होता है । ऐसे में कोई भी लड़की को क्यों चाहेगा ? जर्मन विद्वान फ्रेडरिक एंगेल्स ने अपनी पुस्तक **'द ऑरिजिन ऑफ फैमिली, प्राइवेट प्रॉपर्टी एण्ड द स्टेट'** में कहा है कि **-"सम्पत्ति की धारणा के विकास के साथ ही स्त्रियाँ 'प्रॉलितारिअत' और पुरूष 'बूर्जाआजी' की स्थिति में आ गये । वैयक्तिक सम्पत्ति की धारणा के विकास का सीधा सम्बन्ध सम्पत्ति के उचित उत्तराधिकारी यानी 'अपनी' सन्तान के सन्धान से था और 'सन्तान' अपनी हो- इसकी गारण्टी तभी हो सकती थी जब सन्तानधारिणी गिरफ्त में रहे यानी उसकी स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाए जाएँ ।"८** इससे कुछ बातें हमारे सामने साफ निकलकर आती हैं:-वह यह कि बुर्जाआजी और प्रॉलितारियत की अवधारणा जो मार्क्स के यहाँ है उसमें बुर्जाआजी वर्ग के हाथ में आर्थिक संसाधनों का पूरा नियंत्रण है तथा प्रॉलितारियत बुर्जाआजी वर्ग के द्वारा प्रताड़ित और शोषित होता रहता है । इसी अवधारणा को निजी सम्पत्ति के मामले में स्त्री और पुरूष के सम्बन्ध में लागू करते हुए यदि हम देंखे तो निजी सम्पत्ति को अपने वश में रखने के लिए पुरूष ने स्त्री पर अपना पूरा वर्चस्व और एकाधिकार कायम करना शुरू किया जिसके तहत स्त्री अपनी स्वतन्त्रता खोती गई और पुरूष के हाथों वह महज एक सन्तान उत्पादक के रूप में रह गई । निजी संपत्ति के उदय के साथ ही यह बात भी सामने आयी कि पुरूषों के बीच ही संपत्ति का बंटवारा हुआ । जाहिर सी बात है कि ऐसे में उसने अपनी संपत्ति का उत्तराधिकारी बेटों को बनाया क्योंकि वही उनका असली वारिस है, जो उनके वंश की वृद्धि करेगा, वह बूढ़े माता-पिता का आर्थिक सहारा बनेगा तथा माता-पिता की मृत्यु के बाद उनका अंतिम संस्कार करेगा, जबकि बेटियों को उसने यह अधिकार नहीं दिया । संपत्ति का अधिकार बेटी को इसलिए नहीं दिया गया कि उसे एक न एक दिन दूसरे घर (ससुराल) जाना है

। श्रम और संघर्ष के बाद भी इस पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने उन्हें समता-स्वतन्त्रता का अधिकार नहीं दिया ।' इसी सम्बन्ध में सुशीला टाकभौरे अपनी आत्मकथा शिकंजे का दर्द में लिखती हैं-**"समाज में बेटियों की अपेक्षा बेटों को अधिक सम्मान और महत्व दिया जाता था । जिन लड़कियों के भाई नहीं रहते थे, परिवार के लोग और रिश्तेदार उन्हें बुरा कहते थे । वे बहुत दुखी हो जाती थीं । जिस माँ को बेटा नहीं होता वह तो मानो अपने आपको दुनिया की सबसे दुःखी, अभागी स्त्री मानती । बेटों को महत्व था । बेटे के लिए अनेक व्रत रखे जाते, पूजा की जाती, मन्नतें मांगी जातीं । चाहे जितनी बेटियाँ हो जायें. बेटा होना ही चाहिए । बेटा होने पर ही उनके मातृत्व को महत्व मिलता था । सामाजिक-धार्मिक धारणा थी-"बेटा नहीं होगा तो मरने पर मुँह में पानी कौन डालेगा ? मरने पर अग्नि कौन देगा ? पितरों को पानी कौन देगा ? बेटा नहीं होगा तो मुक्ति कैसे मिलेगी ?"९** । धर्म और आदर्शों के त्याग बलिदान की शिक्षा के साथ लड़कियों को शारीरिक और मानसिक रूप से हमेशा कमजोर बनाया गया । समाज में पितृसत्ता का वर्चस्व होने के कारण ही पुत्र ही पिता का वंशज और दीपक कहलाता है । पितृसत्ता के चलते स्त्रियों को बचपन से, घर से ही भेदभाव झेलने की आदत डाल दी जाती है । बेटे को शिक्षा, खेलकूद, आहार, चिकित्सा और सामाजिक मेलजोल में प्राथमिकता दी जाती है । कन्याओं के लिए निषेधों की बड़ी लक्ष्मण रेखा खींच दी जाती है । इसी कारण स्त्रियों को उनकी इच्छाओं के विरूद्ध जीवन जीने पर विवश रहना पड़ा । उन्हें अपनी इच्छाओं से ही वंचित रहना पड़ता है । उसे शिक्षा का कोई अधिकार नहीं दिया गया, घर के चूल्हे-चौके तक ही उसे सीमित कर दिया गया और घर की चारदीवारी तक ही उसकी सीमा निर्धारित कर दी गयी थी । कवयित्री समाज में बेटियों की इसी दुर्दशा का चित्रण करती है-

"बेटियों की शादी आखिरी विदाई है

क्यों सबकी आँख भर आई है ?

जब जन्म की ज़मीन ही नदारद है
हवा पानी क्या रोये, क्या गाये ?"१०

कवयित्री पुरूषों की बनी बनायी इस व्यवस्था से बहुत ही त्रस्त है जिसने उसके जीवन को बहुत ही कष्टप्रद बनाया । ऐसी व्यवस्था जिसमें उसकी सांसे घुट रही थी तथा उसकी इच्छाओं का दमन हो रहा था । वह उस परम्परा और रूढ़ियों को तोड़ देना

चाहती है जिसने एक स्त्री को गुलाम बनाए रखा और पशुवत जीवन जीने को मजबूर किया । वह ऐसी परम्परा को समाप्त कर देना चाहती है, जिसने उसे लाज, घूंघट, शर्म और शालीनता का चोला पहनने पर बाध्य किया । स्त्री को एक परिधि में बांध दिया गया था और जैसा उसे सिखाया गया वैसा ही जीवन वह जीती रही । यहाँ पर सीमोन द बोउवार का यह कथन उचित लगता है कि 'स्त्री पैदा नहीं होती, बनायी जाती है ।' स्त्री को मर्यादा में रहना चाहिए, उसे जोर से हंसना नहीं चाहिए, पैर फैलाकर बैठना नहीं चाहिए, नज़र मिलाकर बात नहीं करना चाहिए, तेज चलना और कूदना नहीं चाहिए, ज्यादा पढ़ना-लिखना नहीं चाहिए-वगैरह-वगैरह-ऐसे प्रतिमान पुरूषों ने अपनी सुविधा के लिए गढ़े थे । उसके पर कतर दिए गए ताकि वह उन्मुक्त आकाश में उड़ान न भर सके । कवयित्री अपनी कविता **वह मर्द की तरह जी सकेगी** में पितृसत्तात्मक समाज के षड्यन्त्र को बेनकाब करती है । इस रूढ़िवादी परम्परा ने एक बहुत बड़ी दुनिया में अपनी इच्छानुसार जीवन जीने की स्त्री की चाह को मार दिया । कवयित्री परम्परा के मोह, रीति-रिवाज, कर्म और संस्कृति के भ्रम-जाल के प्रति बेहद सचेत है । वह कहती है कि -

"रहन-सहन, रीति-रिवाज

और परम्पराओं की बात
सब उसे
बेबस बनाए रखने की चाल है
इसी से वह बेहाल है ।"११

कवयित्री उस 'राम' को भी कटघरे में खड़ा करती है जिसने 'सीता' को धरती में समा जाने के लिए बाध्य किया था । वह राम से कहती है कि तुम भले शबरी के लिए पूज्य और संवेदनशील होगे, जिसके झूठे बेर तुमने खाये थे किन्तु तुम मेरे लिए और सीता के लिए पूज्य कतई नहीं हो सकते क्योंकि तुमने एक धोबी की बात पर भरोसा करके सीता के चरित्र पर सन्देह किया और उसे गर्भावस्था में घर से बाहर कर जंगल में भटकने के लिए छोड़ दिया । कवयित्री की नज़र में 'शबरी का राम' आदर्श राजा, आदर्श भाई, आदर्श पुत्र हो सकता है किन्तु आदर्श पति कभी नहीं हो सकता । वह राम को दोषी ठहराते हुए कहती है कि सीता की अस्मिता के प्रति तुमने जो भेद भाव किया

उसी परम्परा को तुम्हारे देशवासी (पुरूष समाज) भी निभाते चले आ रहे हैं । इसीलिए आज भी कई घरों में पति द्वारा चरित्र पर सन्देह के कारण स्त्रियां जला दी जाती हैं और कईयों को आत्महत्या करनी पड़ती है और कुछ घर छोड़ने पर मज़बूर हो जाती हैं । कवयित्री स्त्री पर होने वाले अत्याचारों से इतनी व्यथित है कि वह अपनी इस कविता 'जानकी जान गयी है' में भूकम्प आने के पीछे का मूल कारण भी बताती है -

"हे राम!....."

उसकी अस्मिता के प्रति
तुमने जो भेदभाव किया
तुम्हारे देशवासी भी करते हैं

इसीलिए देवभूमि के इस देश में

भूकम्प आते रहते हैं ।"१२

यहाँ नारी की व्यथा को भूकम्प से पैदा होने वाली तबाही के रूप में देखा है । वह बहुत ही व्यथित हो जाती है जब वह एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के प्रति अमानवीय व्यवहार देखती है । भारतीय समाज की सच्चाई यह है कि यहाँ हर बड़ा व्यक्ति अपने से नीचे और कमजोर व्यक्ति का शोषण करता है । इस समाज में जो पदानुक्रम (hierarchy) बना हुआ है इसमें मनुष्य-मनुष्य के बीच एक समतामूलक संबंध स्थापित नहीं है । इसी गैर बराबरी ने आपस में लोगों को बांट दिया । कवयित्री कहती है कि जिस तरह भूकम्प आने के बाद सब कुछ तहस-नहस हो जाता है उसी तरह किसी की तिरस्कार भरी और हेय दृष्टि शोषित की चेतना को पूरी तरह झिंझोड़ देती है-

"भूकम्प व्यथा का कारण है

मैं व्यथित होती हूँ
मानव के प्रति मानव के
अमानवीय व्यवहार से
जो भूकम्प-सा
तहस-नहस कर देता है
मानवता के धरातल को ।"१३

पुरूष सत्ता के इस अमानवीय व्यवहार का उसने अपने निजी जीवन में भी सामना किया है । अपनी आत्मकथा में सुशीला टाकभौरे ने इस बात की चर्चा की है कि कई बार घर में देर से आने पर उनके पति द्वारा उनके चरित्र पर सन्देह किया जाता रहा । उन्होंने पीड़ा के कई स्तरों को अपनी ज़िन्दगी में झेला है । इसलिए वह इस कटु अनुभव को भूल नहीं पाती हैं । स्त्री विमर्श जैसी क्रान्तिकारी तथा परिवर्तनगामी विचारधारा के आने से ही नारी समाज को अपने अधिकारों के प्रति सजग होने का अवसर मिला है । समाज में स्त्री का अस्तित्व अनादिकाल से विद्यमान रहा है लेकिन पुरूषवादी सोच, उसके अहं और स्वार्थपूर्ण साज़िशों के चलते स्त्री की अस्मिता हमेशा रसोई और बिस्तर के भूगोल और शर्मोहया की पर्दादारी में संकुचित होकर रह गई । इसीलिए कवयित्री अपनी कविता **जानकी जान गयी है** के माध्यम से सबको यह बतला देना चाहती है कि आज की सीता धरती में समाना नहीं, आकाश में उड़ना चाहती है -

"आज जानकी सब जान गयी है

अब वह धरती में नहीं

आकाश में जाना चाहती है ।"१४

यह संदेश आज की सम्पूर्ण नारी जाति के लिए है । कवयित्री कहती है कि मनुवाद द्वारा निर्मित पुरूषसमाज स्त्री का शोषण करते रहने से बाज नहीं आएगा किन्तु स्त्री को अपने संघर्ष के जरिए इस व्यवस्था को जड़ से उखाड़ कर फेंकना होगा तभी उसका भी अस्तित्व अर्थपूर्ण होगा । वह स्त्री को सचेत करती है कि यह पितृसत्तात्मक समाज लाख बाधा और रूकावंटे डाले किन्तु तुम अपने बढ़े कद्मों को पीछे मत रूकने देना । कवयित्री ने अपने निज को पहचाना है, तभी तो वह भीड़ से अलग अपनी पहचान बनाने का संदेश देती है-

"देखो कोई रोक न पाये

बढ़ते कद्मों की रफ़्तार"

****

"भीड़ से अलग

अपनी पहचान बनाना है।"१५

१९वीं शताब्दी में फ्रांस में उपजा नारीवादी आन्दोलन इस मुद्दे को लेकर चला था कि अब तक के इतिहास में स्त्रियों के योगदान और उनकी भूमिका की कोई चर्चा नहीं है । अभी तक जो इतिहास लिखा गया वह पुरूषों द्वारा, पुरूषों के लिए लिखा गया पुरूषों का इतिहास था, जिसमें स्त्री समाज की उपलब्धियां नदारद हैं । डॉ.सुमन राजे का **'हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास'** वस्तुतः इतिहास की पुनर्व्याख्या करते हुए समाज में स्त्री उपलब्धियों की खोज और उनको स्थापित करने की मांग करती है । उनकी पुस्तक से यह बात सामने निकल कर आयी कि अब तक का जो इतिहास रहा है वह मूलतः मानवजाति का आधा इतिहास (पुरूष समाज के वर्चस्व का इतिहास) रहा है क्योंकि उसमें स्त्रियों का कहीं जिक्र ही नहीं है । सुमन राजे का यह मानना है कि स्त्री की पहचान और मानव के सामाजिक विकास में उसकी भूमिका के बारे में स्त्रियों द्वारा ही लिखा जायेगा । वह स्त्रियों के लिए, स्त्रियों द्वारा लिखा गया और स्त्रियों का इतिहास होगा । यह स्त्री की जागरूक चेतना ही है कि वह अपनी अस्मिता और अस्तित्व को प्रतिष्ठित करने की मुहिम को चलाने के लिए प्रतिबद्ध है । अब तो वह स्वयं अपने पैरों पर खड़ी है और अपने दृढ़ विचारों के फ़लक को विस्तार दे रही है । उसकी इस मुहिम को आगे चलाने में उसका एक मात्र हथियार उसकी बुलन्द आवाज़ है अर्थात उसकी भावाभिव्यक्ति जो साहित्य के रूप में हमारे सामने है ।

आज स्त्री पुरूष की अनुगामिनी बन कर नहीं जीना चाहती । वह एक स्वतन्त्र मानव के रूप में प्रतिष्ठा चाहती है । कवयित्री अपनी कविता 'जल प्लावन करना है' में इसी संदेश को स्थापित करती है -

"सीमा रेखा तट के बन्धन

जल प्लावित करना है

फिर शेष संस्कृति में
तुम भी मानव कहलाओगी ।"१६

कवयित्री इसे अपने जीवन से जोड़कर देखती है । अपनी आत्मकथा **'शिकंजे का दर्द' की भूमिका** में लिखती है कि **-"अपने घर परिवार के शोषण, अत्याचार की बात बताने वाली स्त्री को समाज अच्छा नहीं कहता । अपने अधिकारों की बात करने वाली स्त्रियों को भी समाज नहीं मानता । समाज की यह मान्यता रही है- 'स्त्री देवी है या कुलच्छनी ।' उसे**

जीवित इन्सान कभी माना ही नहीं गया । जैसे वह हाड़, मांस की मानव नहीं, आदर्शों की पुतली है जो आदर्शों के लिए जीती है और आदर्शों के लिए मर जाती है ।"१७

कवयित्री जल प्लावन के माध्यम से इस समाज में क्रान्ति करके परिवर्तन लाना चाहती है । यहाँ जल प्लावन करने का तात्पर्य है- क्रान्ति लाना, फिर से चीजों को पलट कर देखना है । यह उस जल प्लावन की घटना की ओर भी इंगित करता है जब देव संस्कृति अपनी भोग-विलासिता के कारण नष्ट हुई थी । किन्तु मनु ने मानव संस्कृति का निर्माण किया उसमें भी स्त्रियों को मानुषिक सम्मान नहीं दिया गया । मनुस्मृति में यह लिखा है कि - **'Woman is an embodiment of the worst desires, hatred, deceit, jealousy and bad character. Women should never be given freedom.' (Manu IX. 17 and V. 47, 147)'** । कवयित्री इसी मनुवादी पितृसत्तात्मक व्यवस्था को ध्वस्त करना चाहती है जहाँ उसे मनुष्य के रूप में कभी देखा ही नहीं गया ।

कवयित्री स्त्रियों की पहचान का रास्ता अख्तियार करती है । वह अपने अतीत को याद करके दुःखी हो जाती है किन्तु उससे सबक भी लेती है कि अब तक हम दलित, अपमानित और गुलाम थे । हमारी अपनी कोई पहचान नहीं थी और न ही हमारा कोई अस्तित्व था । इसी तथ्य को रेखांकित करती हुई आदिवासी कवयित्री निर्मला पुतुल अपनी कविता 'उसे मत कुछ कहो सजोनी किस्कू' में स्त्री शोषण के इतिहास को उल्लिखित करती हैं- "**बस! बस!!बस!!! / कुछ मत कहो सजोनी किस्कू! / मैं जानती हूँ सब / जानती हूँ कि अपने गांव / बागजोरी की धरती पर / जब तुमने चलाया था हल / तब डोल उठा था / बस्ती के मांझी थान में बैठे देवता का सिंहासन / गिर गई थी पुश्तैनी प्रधानी कुर्सी पर बैठे / मगजहीन मांझी हाड़ाम की पगड़ी / पता है बस्ती की नाक बचाने की खातिर / तब बैल बनाकर हल में जोता था / जालिमों ने तुम्हें / खूंटे में बांधकर खिलाया था / भूसा ।"१८** किन्तु आज वह अपने जीवन के मूल्य को समझ गयी है और उसे बहुमूल्य बनाना चाहती है । अब वह सेवक की तरह नहीं बल्कि स्वामी बन कर जीना चाहती है । इसीलिए सुशीला टाकभौरे कहती हैं- -

"अपने जीवन का मूल्य समझ
उसे बहुमूल्य बनाना है

सेवक नहीं, स्वामी बन जाना है ।"१९

अर्थात औरत के संघर्ष और उसके अस्तित्व की जो अवमानना होती आ रही है उसके वास्त्विक मूल्यांकन की दिशाएं स्वयं औरत तय करेगी और अब वह सेवक न रहकर स्वयं की स्वामी बनेगी ।

दलितों और स्त्रियों का शोषण हजार वर्षों से होता आ रहा है । किन्तु जब एक दलित स्त्री के शोषण की बात आती है तो शोषण तिहरे स्तर का हो जाता है- वर्ग के स्तर पर, लिंग के स्तर पर और जाति के स्तर पर । सुशीला टाकभौरे की कविता में दलित स्त्री के इस तिहरे शोषण के प्रति संवेदना और आत्म-सजग अभिव्यक्ति दिखाई देती है । वे मनु द्वारा लादी गई पुरूष वर्चस्व की सत्ता के विरोध में सवाल उठाती हैं । इस काव्य संवेदना में जाति, लिंग और वर्ग पर आधारित तिहरे शोषण को झेलती दलित स्त्री उन विषमताओं और नैतिक मूल्यों को नकारती है जो पुरूष के लिए अलग मापदण्ड और स्त्री के लिए अलग मापदण्ड प्रस्तुत करते हैं । कवयित्री ने अपने जीवन में दलित, गरीब और स्त्री होने का संताप उठाया है । किन्तु अब वह एक सम्मानपूर्ण जीवन जीना चाहती है । उसका मानना है कि भले हमें लाख सुविधा और ऐशो-आराम की ज़िन्दगी क्यों न मिल जाय किन्तु जब तक हमारे संघर्ष को सामाजिक न्याय के धरातल पर नहीं आंका जायेगा तब तक हमें संघर्षरत रहना है । कहने का तात्पर्य यह है कि दलितों और स्त्रियों की आर्थिक स्थिति भले ही सुधर जाय, अगर समाज में सम्मान की ज़िन्दगी न हो तो उसके लिए सब कुछ बेकार है क्योंकि उसकी लड़ाई केवल आर्थिक नहीं बल्कि सामाजिक भी है । वह सामाजिक न्याय चाहती है । भारतीय संविधान में समता, स्वतन्त्रता और सम्मान का अधिकार सबको दिया गया है । कवयित्री अपने आर्थिक अधिकारों के साथ-साथ सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक अधिकारों की भी मांग करती है ।

कवयित्री इस समाज में सम्मान और स्वाभिमान के साथ जीवन जीने की इच्छुक है । इसीलिए वह उगते हुए अंकुर की उपमा देती है और उससे प्रेरणा लेती है । वह कहती है कि जिस तरह विभिन्न प्रकार के अन्न चक्की में पिसने के लिए डाले जाते हैं और पिसते हीं उनका कोई अस्तित्व नहीं रह जाता । पिसा हुआ जो पदार्थ मिलता है उसमें यह पता लगाना मुश्किल है कि कौन सा गेहूँ है और कौन सा जौ ? गेहूँ हो या जौ या फिर बाजरा हो, चक्की में पिसने के बाद उन सबका अस्तित्व मिट जाता है । दलितों

और स्त्रियों के साथ भी ठीक ऐसा ही किया गया । उन्हें इस तरह कुचला गया है कि उनकी अपनी कोई पहचान और अस्तित्व ही नहीं रहा । कवयित्री इस हालत को बदलना चाहती है वह कहती है कि हमें पिसे हुए अन्न की तरह अस्तित्वहीन जीवन नहीं जीना है बल्कि उस उगते हुए अंकुर की तरह जीवन जीना है जो अपने अस्तित्व के साथ इस धरती पर टिका रहता है । उगता हुआ अंकुर हमेशा आत्मसम्मान के साथ ऊपर की ओर बढ़ता है । वह कभी झुका हुआ नहीं होता । वह गरिमा के साथ, अपने मुंह को आकाश में उठाए निरन्तर प्रगति की तरफ बढ़ता है । स्त्रियों और दलितों को भी उगते हुए अंकुर की तरह आत्मसम्मान और पूरे आत्मविश्वास के साथ इस समाज में रहना है । कवयित्री यहाँ केवल 'अंकुर' शब्द का प्रयोग न करके बल्कि 'उगते हुए अंकुर' शब्द का प्रयोग करती है, जो नई आशाएं, नया जीवन और नए विचार का द्योतक है । अपनी कविता **ऊगते अंकुर की तरह जीना है** में कवयित्री इन्हीं भावों को प्रकट करती है -

"स्वयं को पहचानना है

चक्की में पिसते अन्न की तरह नहीं-

ऊगते हुए अंकुर की तरह जीना है ।"२०

सुशीला टाकभौरे ने अपने जीवन में दलित होने के साथ स्त्री होने की पीड़ा भी भोगी है । उनकी कविताएं मनुवाद द्वारा निर्मित पुरूष प्रधान समाज में स्त्री शोषण को उजागर करती है । उनकी कविताएं नारी के मन का आक्रोश है जो बवंडर जैसा गूंजता है । 'बवंडर' एक ऐसा शब्द है जो उनकी कविता में बार-बार आता है । एक स्त्री के मन में इसका उठना उसके विचारों की क्रान्ति को दर्शाता है । कवयित्री के हृदय में हलचल और ऊहापोह चल रही है । अब तक का जो नारीवादी विमर्श है उसमें यही बात सबसे ज्यादा ध्यान आकृष्ट करने वाली है कि मनुष्य के सामाजिक विकास और उसकी मुक्ति के जितने भी संघर्ष रहे हैं उसको साकार रूप देने का श्रेय पुरूष वर्ग को ही है । स्वयं को स्थापित करने के लिए कवयित्री ने जितनी जद्दोजहद की, उसके पीछे उसके मन में अपने अधिकारों को लेकर उठा बवंडर है । पुरूष के इतिहास का हवाला देते हुए कवयित्री कहती है कि अधिकार सत्ता और वर्चस्व पाने का जो दृढ़-संकल्प पुरूष वर्ग ने लिया था आज उन्हीं की दमनकारी सत्ता से मुक्ति पाने के लिए उसी तरह का बवंडर उनके मन में उठता है ।

भारतीय संदर्भ में एक सरसरी निग़ाह डालें तो पता चलेगा कि सांस्कृतिक आन्दोलन हो या आज़ादी की लड़ाई हो या फिर नवजागरण काल हो, जितनी भी क्रान्तियां हुईं उसमें सबसे बड़ी भागीदारी पुरूषों की ही रही । उनके मन में समय के साथ मुक्ति के लिए जो चेतना और जुनून पैदा हुआ था ठीक वैसा ही भाव आज कवयित्री के मन में बवंडर जैसा उठता है । वह इस समाज में पितृसत्त्तात्मक व्यवस्था से मुक्ति चाहती है । उसमें कुछ कर गुजरने की जीजिविषा पल रही है । विचारों की आंधी उसके मन में हलचल पैदा कर रही है ।

"मेरे मन में

वह सब

बवंडर सा उठता है

कुछ वैसा ही घटित होता है

जैसा कि

इतिहास पुरूषों के मन में

समय के साथ उठा था ।"२१

सुशीला टाकभौरे इतिहास से सबक लेती हैं । वह पूछती है कि हमेशा स्त्री को ही बांझ (बन्ध्या) क्यों कहा जाता है? पितृसत्तात्मक समाज इसी प्रश्न की अनदेखी करता आया है । यहाँ तक कि अरस्तू जैसे महान दार्शनिकों ने स्त्री को एक कमजोर प्राणी की संज्ञा दी है । इस तरह से हम देंखे तो समझ में आयेगा कि हमेशा से ही आदमी के निगाह में औरत एक निर्जीव मादा रही है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं । उन्होंने औरतों को जितनी छूट दी उन्होंने उतने में ही निर्वाह करना सीखा, उसी चारदीवारी में घुट-घुट कर सांस ली और उसी को अपनी नियति समझा ।

अभी तक स्त्री इसी परिधि में बंधी हुई थी । किन्तु अब वह इस चीज को समझकर नकारती है और पूछती है कि स्त्री ही केवल बांझ क्यों कहलाए ? अगर उसका उसमें कोई दोष न भी हो तो सारा आरोप उस पर ही क्यों आता है ? ये प्रश्न कवयित्री को अन्दर से झिंझोड़ कर रख देता है । उसने उन सभी मापदण्डों को तोड़ा है जो पुरूषों ने

उसके लिए निर्धारित किए थे । अब वह जीवन जीने की स्वतन्त्रता चाहती है ताकि जीवन को अपने ढंग से जी सके । कवयित्री का यह आत्मविश्वास है कि -

"मैं बन्ध्या नहीं हूँ

न ही पत्नी हूँ

नपुंसक काल की

मैं सृजनशीला

परम्परा हूँ अपनी माँ की ।"२२

कवयित्री कहती है कि स्त्री हमेशा से सृजन करती आयी है । इसीलिए वह बांझ (बन्ध्या) नहीं हो सकती, पुरूष में भले दोष हो सकता है । वह कहती है कि मैं उस परम्परा का अहम हिस्सा हूँ, जिसे जन्मदायिनी कहा जाता है ।

कवयित्री कहती है कि वह अपनी माँ का अंश है और उसी की तरह 'सृजनशील', किन्तु वह केवल अनुकरण मात्र नहीं है । उसके अन्दर अपना वर्तमान निहित है । वह लिखती है -

"मुझमें वर्तमान निहित है

मेरा अपना वर्तमान

एक युग का बोध

आत्म बोध !"२३

यहाँ पर 'वर्तमान' शब्द का दो बार प्रयोग कवयित्री ने अनायास ही नहीं किया है । वह कहती है कि मैं उस इतिहास को नहीं दोहराऊंगी जो सदियों से चला आ रहा है । अब हम स्त्रियां अपने मापदण्ड स्वयं तय करेंगे । वह 'मेरा अपना वर्तमान' शब्द का प्रयोग करती है जिससे तात्पर्य है कि अब उसका स्वयं का वर्तमान होगा अपने अस्तित्व को निर्धारित करने के लिए, जिससे उसके और उसकी भावी पीढ़ी के भविष्य का निर्धारण होगा । वर्जिनिया वुल्फ़ ने अपनी पुस्तक '**अपना कमरा**' में लिखा है कि **"हर स्त्री के पास पुरूषों की भांति अपना निजी कमरा होना चाहिए जहाँ बैठकर वह अपने निजी जीवन या स्त्री जीवन के बारे में कुछ सोच सके या लिख सके ।"** उस काल में इंग्लैण्ड

में महिलाओं के पास अपना निजी कमरा रखने का चलन नहीं था । वर्जिनिया वुल्फ़ की बात से यह चीज सामने निकल कर आयी कि स्त्रियों का अपना कोई कमरा नहीं होता, जहाँ वह अपने बारे में भी कुछ सोच सके, चिन्तन-मनन कर सकें । वह आगे लिखती हैं कि -**"काल्पनिक रूप से उसका महत्व सर्वोच्च होता है, व्यवहारिक रूप में वह सर्वथा महत्वहीन है । कविता के पृष्ठ-दर-पृष्ठ में वह व्याप्त है । इतिहास में वह अनुपस्थित है । कथा साहित्य में वह राजाओं, विजेताओं की ज़िंदगी में राज करती है । वास्तविकता में वह किसी पुरूष की गुलामी करती है, जिसके माँ-बाप उसकी उंगुली में अंगूठी ठूंस देते हैं । साहित्य में कुछ अत्यन्त प्रेरक शब्द, कुछ अत्यन्त गंभीर विचार उसके होठों से झरते हैं । असली ज़िन्दगी में वह कठिनाई से पढ़ सकती है, कठिनाई से बोल सकती है और अपने पति की संपत्ति है ।"**२४ औरतों के लिए यह नियति मान ली गई थी । यहां परम्परा से नियतिवाद को जोड़ना है । यह एक नियतिवादी मानसिकता ही थी जिसके तहत अभी तक जो कुछ भी उसके साथ घटा या फिर जितनी भी उसने यातनाएं सहीं, उसको उसने अपनी नियति, अपना भाग्य का हिस्सा ही माना या फिर अपने पिछले जन्म के कर्मों का परिणाम माना । कवयित्री ने जिस 'वर्तमान' शब्द का प्रयोग किया है उसका मतलब इतिहास पर अब जो हावी होगा तथा जिससे आने वाली पीढ़ियों का भविष्य निर्धारित होगा । कवयित्री कहती है कि मेरा अपना वर्तमान जिसको मैं तय करूंगी और किसी का (पुरूषवादी सत्ता और उससे ओत-प्रोत सामाजिक और पारिवारिक व्यवस्था का) हस्तक्षेप नहीं होगा । 'एक युग का बोध' का तात्पर्य वो पूरा युग जिसमें स्त्रियों का शोषण और दमन हुआ । वह कहती है कि उसका बोध मुझे आत्मबोध के रूप में हुआ है । अब सभी चीजें मुझे साफ-साफ दिखायी देने लगी हैं ।

कवयित्री इस आत्मबोध से एक युग चेतना को जन्म देना चाहती है तथा सम्पूर्ण समाज में विषमता की जो बेल फैली हुई है उसको समाप्त कर समस्त प्राणियों में सहृदयता जगाना चाहती है -

"अति को

विषमता को तोड़कर

सहृदयता जगाना चाहती हूँ

क्रौंचि की तरह

मैं जन्म देना चाहती हूँ

युग चेतना को ।"२५

हमारे समाज में सदियों से सामाजिक असमानता का भाव रहा है जिसने लोगों के हृदय में कटुता और असमानता का बीज बोने का कार्य किया । महाभारत की कथा हो या रामायण की, यह पौराणिक ग्रंथ भी आज की इस सामाजिक असमानता के लिए बहुत बड़े कारक माने जा सकते हैं । कवयित्री **युग चेतना** नामक कविता में क्रौंचि, एकलव्य तथा द्रोणाचार्य जैसे मिथकों का प्रयोग करती है । क्रौंचि पक्षी की पीड़ा ने वाल्मीकि को जगत में अमरत्व प्रदान किया । किन्तु द्रोणाचार्य ने एकलव्य को विषमता और स्वार्थवश ज्ञान देने से मना कर दिया क्योंकि वह शूद्र था । ब्राह्मणवादी सोच सामाजिक असमानता का सबसे बड़ा कारण है जिसने सामाजिक जगत, राजनैतिक जगत तथा शिक्षा जगत को भी नहीं छोड़ा । कवयित्री ने अपने बचपन में शिक्षा ग्रहण करते समय तरह-तरह का जातिभेद सहा । वह इन मिथकों को अपने जीवन से जोड़कर देखती है । वह कहती है कि क्रौंचि की पीड़ा की तरह मेरी पीड़ा भी है । वह अपनी पीड़ा और दुःख से इतनी व्यथित है कि वह भी वाल्मीकि के सकारात्मक पक्ष को लेकर एक युग चेतना को जन्म देना चाहती है । वह अति और विषमता को जड़ से मिटाकर एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहती है जहाँ कोई ऊँच-नीच न हो और न ही किसी प्रकार का भेदभाव । वह एक समतामूलक समाज की स्थापना करना चाहती है ।

आज की नारी सजग हो चुकी है उसके जो खोये हुए अधिकार थे वह उसे पाने की होड़ में लगी हुई है । अभी तक स्त्री अपने आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक अधिकारों से वंचित रही है किन्तु आज वो अपने अधिकारों के लिए संघर्ष कर रही है । सदियों से स्त्रियों पर हो रहे शोषण के इतिहास को अपनी कविता में कवयित्री ने जगह दी है । सुशीला टाकभौरे घर में अपने पति द्वारा प्रताड़ना और उपेक्षा की शिकार रही हैं जो कवयित्री के हृदय को अन्दर से मजबूत बनाकर उसके विरूद्ध प्रतिरोध करने का साहस पैदा करता है । उनका आक्रोश बहुत ही तीखा है जिसके लिए वह **मैंने कुछ शब्द जोड़े हैं** शीर्षक कविता में 'आग' और 'मशाल' जैसे सशक्त और अर्थपूर्ण शब्दों का प्रयोग करती हैं -

"मैंने कुछ शब्द जोड़े हैं

आग और मशाल

आग

चूल्हे की नहीं

न ही चिता की यह

कड़कती बिजलियों से

बरसती चिनगारियों के

कण समेटे हैं

मैंने कुछ शब्द जोड़े हैं ।"२६

ये शब्द उनकी कविता में अनायास ही नहीं आये हैं यह उसकी चेतना ही है कि वह पुराने प्रतिमानों में बंधना नहीं चाहती जो उसके लिए पुरूषों ने तय किए थे । कवयित्री के द्वारा समेटे गये यह कण ना ही चूल्हे के हैं न ही चिता के हैं । ये अग्नि के कण उसके अन्दर विचारों की दहकती ज्वालामुखी के द्योतक हैं ।

कवयित्री अपने अधिकारों के लिए सजग है । वह समस्त स्त्री-जाति को सचेत करती है कि अपने अधिकारों को पाने के लिए तुम्हें वे सारे बंधन तोड़ने पड़ेंगे जिसमें तुम अब तक बंधी थी । पितृवादी समाज ने तुम्हारी दासता के लिए जो बेड़ियां (लज्जा, श्रद्धा, शिकवा, ज़ज्बात, कामिनी) निर्मित की थीं उसको त्याग कर तुम्हें अपने लिए नए प्रतिमान निर्मित करने होंगे जिसमें तुम अपने आप को सहज महसूस कर सको । कवयित्री स्त्रियों की पारम्परिक छवि को तोड़ देना चाहती है -

"लज्जा नहीं, श्रद्धा नहीं

पलकों में अश्रुधारा नहीं

गाती नहीं है रागिनी

न कनक है न कामिनी

न प्रेम की दो बात है

शिकवा नहीं, न ज़ज्बात है

अधिकार की ये पुकार है ।"२७

कवयित्री कहती है कि वह स्वयं को इन बंधनों में बंधा हुआ क्यों माने ? उसे पुराने प्रतिमान स्वीकार नहीं वह अपने प्रतिमान स्वयं निर्मित करना चाहती है ।

प्रशंसनीय नारी शीर्षक कविता में कवयित्री लिखती है-

"आज खुशी की बात यही है

शोषित नारी जाग चुकी है

काट सभी बंधन को वह

प्रगति का पथ जान चुकी है ।"२८

****

आओ बहनों आगे बढ़कर

पाये हम अपने अधिकार

देखो कोई रोक न पाये

बढ़ते कद्मों की रफ़्तार ।"२९

इस कविता में स्त्रियों की एकता की भावना को चित्रित किया गया है । कवयित्री एक ऐसे समाज की परिकल्पना करती है जहाँ पर स्त्री समाज में आपसी सहयोग और भागीदारी से अपने उत्थान पथ पर स्वयं अग्रसर होंगी । जिस प्रकार **कार्ल मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग को आवाहन देते हुए कहा कि 'दुनिया के मज़दूरों एक हो तुम्हारे पास खोने के लिए कुछ नहीं है पर पाने के लिए पूरी दुनिया है ।' तथा डॉ.अम्बेडकर ने पूरे उत्पीड़ित समुदाय को दलितों और स्त्रियों को सम्बोधित करते हुए कहा 'तुम विद्रोह करो । तुम्हारे पास खोने के लिए गुलामी के सिवाय कुछ नहीं है, पर पाने के लिए आजादी है ।'** उसी प्रकार सुशीला टाकभौरे अपनी उपरोक्त कविता में पुरूष वर्ग बनाम स्त्री वर्ग के आपसी संघर्ष में अपने अधिकारों को जीतने के लिए औरतों को लामबद्ध होने का संदेश देती हैं । सफलता प्राप्ति के लिए संगठित होना अत्यन्त आवश्यक है । कवयित्री यहाँ 'आओ बहनों' का प्रयोग करती है, उसका संकेत गैरदलित और दलित स्त्रियों दोनों की तरफ है । सुशीला टाकभौरे का **कहना है कि "स्त्री दलित है ही, चाहे वह सवर्ण हो**

या दलित! लेकिन यह बात भी सत्य है कि सवर्णों की स्त्रियां स्वयं को दलित नहीं कहलाना चाहती । अपनी पीड़ा को चुपचाप भोगती हुई वे हर जुल्म को सहन करती हैं ।"३० वह कहती हैं कि जब तक सभी स्त्रियां मिलकर एक नहीं होंगी तब तक पूरे स्त्री समाज की समस्याओं का निदान नहीं हो पायेगा । टुकड़ों में बंटकर सफलता नहीं हासिल की जा सकती । इसलिए हम सभी को मिलकर एक साथ अपने अधिकारों के लिए आवाज उठाना होगा और आगे आना होगा तभी हम कामयाब हो पायेंगे । फिर कोई भी (पितृसत्तात्मक समाज) हमें आगे बढ़ने से और अपने अधिकारों को पाने से नहीं रोक सकता है । कवयित्री का मानना है कि 'स्त्री' पहले स्त्री है, चाहे वह दलित हो या गैरदलित । स्त्री को कानून द्वारा कई अधिकार प्रदान किए जा चुके हैं । किन्तु प्रश्न यह है कि क्या कानून द्वारा दिए गए अधिकार उस तक पहुँच पाए हैं ?

कवयित्री का बचपन और युवावस्था सभी बहुत ही दारूण अवस्था में गुजरा है । बचपन से युवावस्था तक कवयित्री के जीवन के दिन अनेक प्रकार के शिकंजों में जकड़े हुए थे । घर में पिता, भाई, शादी के बाद पति का शिकंजा । इस जकड़न के कारण उनके जीवन और व्यक्तित्व के विकास में बाधा आती रही । कठिन श्रम, कष्ट, अभाव और जातिभेद के दंश को कवयित्री भूला नहीं पाती है। अपने अतीत के घावों (जाति और वर्ण का अपमान, पति की लांछना) को हरा होते हुए महसूस करती है । इन सभी कटु अनुभवों ने कवयित्री को अन्दर से मजबूत और साहसी तथा आत्मनिश्चयी बनाया है । वह अपनी व्यथा को अपनी कविता 'मासूम भोली लड़की' में मासूम भोली लड़की के माध्यम से अभिव्यक्त करती है -

"ताक पर रख दिया है मैंने

कठोर बनकर

सिखाना चाहती हूँ कि-

"लड़की, तुम किसी पर निर्भर नहीं,

स्वयं पूर्ण हो

तुम मुझसे अलग नहीं

फिर भी तुम्हारा अपना

एक अलग अस्तित्व है

तुम्हारी राह, तुम्हारी मंजिल

मुझसे बहुत आगे है ।"३१

'यहाँ मासूम भोली लड़की' का तात्पर्य जो समाज की इस कटु सच्चाई से अनभिज्ञ है । अभी वह अपनी माँ पर निर्भर है और भीड़ से छुपकर वह अपनी माँ के आंचल में सुरक्षित महसूस करती है । भावी जीवन में आने वाले हर उतार-चढ़ाव से अनजान, वह अपनी मासूमियत और भोलेपन के दायरे से बाहर नहीं निकली है । इस कविता में कवयित्री ही मासूम भोली लड़की की माँ है लेकिन सामान्य माँओं की तरह वह अपनी बच्ची को अपनी ममता के आंचल में लपेटकर नहीं रखना चाहती जहां से बाहर की चीजें धुंधली दिखाई दें, ना ही वह बस अपने लाड़-प्यार से अपनी बच्ची को एक सपने की दुनिया में क़ैद रखना चाहती है बल्कि वह लड़की की बाल्य अवस्था में ही उसको उसके अलग अस्तित्व का बोध कराती है और आने वाले मुश्किलों के लिए तैयार करती है । साथ ही कवयित्री एक माँ के रूप में यह दृढ़ संकल्प लेती है कि उसका अतीत जिन यातनाओं, प्रताड़नाओं और अवहेलना से भरा है वही अतीत उसकी बच्ची का भविष्य नहीं बनेगा । बच्ची आत्मनिर्भरता, आत्मविश्वास और सफलता के बलबूते पर दुनिया को एक नए दृष्टिकोण से देखेगी ।

कवयित्री के अन्दर चेतना का सार्थक रूप दिखायी देता है । अस्मितामूलक विमर्श ने स्त्री की अस्मिता को पहचानने की पहल की है । आज की स्त्री किसी के टुकड़ों पर पलने वाली नहीं और न वह किसी के आसरे जीवित रहने वाली है । उसने अपनी स्वतन्त्रता, अपने आत्म-सम्मान के लिए जीना सीख लिया है । कवयित्री के अन्दर स्त्री चेतना का यह प्रतिरूप बहुत ही सार्थक रूप में देखने को मिलता है । आज वह स्वाभिमानी हो गई है । **आज की खुद्दार औरत** कविता में कवयित्री अपने स्वाभिमान को व्यक्त करती है-

"आज यह खुद्दार औरत

अपने आप को पहचान गई है

इसे यूँ न सताओ

वरना यह भी

नंगेपन पर उतर आयेगी

तुम्हारे सर्वस्व को नकार कर

तुम्हें नीचा दिखायेगी ।"३२

कवयित्री कहती है कि अगर शोषण का इतिहास ऐसे ही चलता रहा तो स्त्री अपने वास्तविक रूप में आकर अपने शोषण का बदला अवश्य लेगी ।

आज नारी अपनी आदिम यातना से लेकर आज तक की पीड़ादायक स्थिति को खंगाल रही है । अब तक कवयित्री पुरूष समाज के लिए भोग की वस्तु थी । वह अभी तक आश्रिता, अबला, बेबस और निराधार थी । वह पुरूष के समक्ष सजी-संवरी मात्र एक गुड़िया थी । इन सबने उसे पंगु बना दिया था । उसने अपनी इच्छाओं की बलि चढ़ा दी थी । किन्तु, आज इन सभी आडम्बरों कोमलता, कमनीयता, घूंघट-परदे लाज, शर्म का चोला उसने उतार फेंका है । आज वह ज्ञान-विज्ञान के इस दौर में पीछे नहीं है । उसने भी मर्द की तरह जीना सीख लिया है । अब स्त्री-पुरूष की मुट्ठी में क़ैद उसके पांवों की जूती बनकर नहीं रहेगी । स्त्री ने हर क्षेत्र में अपनी योग्यता और सफलता के झंडे गाड़े हैं । आज वह जीत का जज़्बा रखती है । वह समाज की अनेक कठिनाइयों का सामना करने का साहस रखती है । ज्ञान तथा विज्ञान के क्षेत्र में उसने अपनी प्रतिभा का परचम लहराया है । कवयित्री **वह मर्द की तरह जी सकेगी** कविता में स्त्री को किसी पुरूष से कम नहीं मानती -

"मान-सम्मान में

ज्ञान और विज्ञान में

पीछे नहीं है औरत

पूरे विश्व को मुट्ठी में रखकर समझेगी

तभी वह मर्द की तरह जी सकेगी ।"३३

सुशीला टाकभौरे ने **मेरी स्थिति** कविता में बाजारवादी संस्कृति तथा उसका स्त्री पर पड़ने वाले कुप्रभाव का भी उल्लेख किया है । आधुनिकता और उपभोक्तावादी संस्कृति

ने महिलाओं को एक बड़े रूप में छला है । आज स्त्री-देह का उपयोग विज्ञापन में हो रहा है । बाजारवाद ने स्त्री को एक उपभोग की वस्तु माना है । बाजारवाद और उपभोक्तावाद ने स्त्री-देह को बाजार के बीच में लाकर खड़ा किया है । आज के इस उपभोगवादी और भौतिकतावादी तथा बाजारवादी संस्कृति ने स्त्री के सही रूप को भुला दिया है । वास्तुकला, चित्रकला और मूर्तिकला के नाम पर तो कभी विज्ञापनों ने स्त्री के शरीर को ही प्रदर्शित किया है । नारी के अनेक रूप हैं -जननी, बहन, पत्नी, प्रेमिका । आदिकाल से अब तक नारियों के लिए विभिन्न नैतिकताएं, कहावतें और फब्तियां मशहूर रही हैं । यहाँ तक कि तुलसीदास कहते हैं- 'ढोल गंवार शूद्र पशु नारी, ये सकल ताड़ना के अधिकारी ।' तो कभी जयशंकर प्रसाद ने कहा- 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो ।' कभी कहा गया -मुक्त करो नारी को मानव / चिरबंदिनी नारी को / युग-युग की बर्बर काया से / जननी सखी और प्यारी को । किन्तु आदिकाल से अब तक इतिहास पर एक दृष्टि डाली जाय तो पुरूष वर्चस्व ने अपना स्थान कभी छोड़ा नहीं और स्त्री को मनोवैज्ञानिक रूप से दबे रहने पर विवश किया जाता रहा । स्त्री के वास्तविक रूप को किसी ने भी (पुरूष समाज) पहचानने की कोशिश नहीं की । कवयित्री 'मेरी स्थिति' शीर्षक कविता में स्त्री के वास्तविक रूप को, उसके अस्तित्व को सही अर्थों में पहचानने के लिए कहती है -

"कभी कला के नाम पर

कभी सस्ते विज्ञापन में

मुझे यूँ न भुनाइये

मैं माँ हूँ, बहन हूँ, बेटी हूँ

पत्नी और प्रेयसी भी

मुझे दांव पर न लगाइए ।"३४

जिस भारतीय समाज में 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' कहकर स्त्री को सम्मान दिया जाता है वहीं दूसरी तरफ स्त्री के शरीर के अंगों से सम्बन्धित गालियाँ भी सरेआम दी जाती हैं । इसे घोर विडम्बना ही कहा जा सकता है । पुरूषों की बनी-बनायी कुरीतियां, उनकी षड्यंत्रकारी प्रवृत्तियाँ, अपने को हमेशा श्रेष्ठ सिद्ध करती आयीं हैं । पुरूष ने प्रकृति,

पशु, पक्षी सब में स्त्री शोषण के रूपों को घड़कर, व्यंगाकार बनाकर स्त्री को ठगा है । कवयित्री "गाली" शीर्षक कविता में पुरूषों की इस चाल को बेनकाब करती है -

"जब कुत्ता और कुतिया

एक दूसरे के पूरक हैं

तब

कुत्ते को वफादार

कहने के साथ ही

चरित्र के नाम पर

कुतिया गाली क्यों दी जाती है ?"३५

अंग्रेजी में कुतिया को 'बिच' कहा जाता है और इस शब्द का अर्थ सामान्यतः स्त्रियों के चरित्र पर उंगली उठाते हुए उसे वेश्या के समतुल्य ठहराने के लिए प्रयोग में लाया जाता है । प्रतीत होता है कि जिस प्रकार नर कुत्तों के समूह के बीच में मादा कुतिया किसी एक के साथ संभोग न करके अनेकानेक साथियों से सम्बन्ध रखती है । इसीलिए वेश्याओं को भी 'बिच' कहा जाता है । इसीलिए भारतीय समाज में 'कुतिया' शब्द औरत के लिए एक अपमान जनक शब्द का द्योतक है । इसीलिए कवयित्री यह प्रश्न करती है कि कुत्ते को यदि उसकी वफादारी के लिए सराहा जाता है तो फिर कुतिया शब्द को हमेशा नकारात्मक अर्थ में क्यों लिया जाता है ? यह विचार पुरूषवादी समाज द्वारा पोषित, स्त्री समाज के लिए एक अभिशाप के समान है ।

इसमें दो राय नहीं है कि आज दलित महिलाएं दोहरी दलित हैं । दलित स्त्री विमर्श आने के पीछे यही कारण रहा है कि सवर्णों ने तो उनका शोषण किया ही है, दलित पुरूष समाज ने भी उनका उतना ही शोषण और तिरस्कार किया है । दलित स्त्री समस्या पर विचार करते हुए मोहनदास नैमिशराय अपने लेख 'दोनों गालों पर थप्पड़' में लिखते हैं -**"दलित महिलाओं की त्रासदी यह है कि उन्हें एक गाल पर ब्राह्मणवाद का तो दूसरे गाल पर पितृसत्ता का थप्पड़ खाना पड़ता है ।"३६** दलित महिलाएं दुहरे शोषण और दुहरे संघर्ष की शिकार हैं । आज यदि दलित समाज से दलित महिलाओं को और उनकी पीड़ा तथा समस्याओं को अलग करके देखे जाने की आवश्यकता आ पड़ी है तो

यह सही भी है । आज का दलित समाज मनुवादियों के षड्यंत्रों के कारण हर क्षेत्र में पिछड़ा हुआ है । किन्तु दलित समाज की महिलाएं उससे भी अधिक पिछड़ी हुई हैं । यह इस दलित समाज की कटु सच्चाई है । दलित स्त्रियों को मनुवादियों के षड्यन्त्रों और कुटिल चालों के अतिरिक्त अपने समाज और परिवार के उत्पीड़न का अनवरत शिकार होना पड़ता है ।

कवयित्री दलित स्त्री मुक्ति का प्रश्न उठाते हुए पूर्ण रूप से लोकतांत्रिक जीवन की पक्षधर है । मनुष्य समता पूर्ण ज़िन्दगी सम्मान के साथ जीये यह कवयित्री की भविष्य योजना का हिस्सा है । वह चाहती है कि हर मानव में समता-सम्मान प्राप्ति के लिए शेर की दहाड़ जैसा जज्बा होना चाहिए । वह शोषण को अपने जीवन-शैली से निकालने का संदेश देती है । **बदलेगा कुंठित मानस** शीर्षक कविता में दलित शोषित व्यक्ति सम्मान का अधिकारी रहा है किन्तु वह हमेशा से एक विषमता मूलक समाज के दमघोंटू परिवेश में सांस लेता रहा है और ज़िल्लत का विष पीता रहा है । शोषण और अत्याचार का शिकार यह इन्सान अपने इन्सानी दर्जे को प्राप्त करने के लिए अब जाग उठा है । अपने अधिकारों के प्रति सजग होकर वह अपने शोषण के विरूद्ध आवाज बुलन्द कर रहा है ।

स्त्री शीर्षक कविता में एक स्त्री का उद्‌बोधन है, उसका चेतनामुखी आवाहन है । वह सावित्रीबाई फुले को अपना आदर्श तथा क्रांति माँ मानती है । वह उनसे संघर्ष की प्रेरणा प्राप्त करती है । सावित्रीबाई फुले ने सर्वप्रथम स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में बहुत बड़ा योगदान दिया था । उन्होंने स्त्री उत्थान के लिए शिक्षा को परिलक्षित कर अपने जीवन काल में १८ स्कूल खुलवाये । यहाँ से स्त्री शिक्षा और स्वाभिमान का अध्याय शुरू होता है । यह उनका ही प्रतिफल है कि आज कवयित्री भी शिक्षित है । फुले दंपत्ति के प्रयत्नों से ही समाज में हर वर्ग की लड़कियों को शिक्षा का अधिकार मिला । उन्होंने समाज में व्याप्त इन कुरीतियों और सामाजिक संकीर्णता को तोड़ा कि स्त्रियों को शिक्षा नहीं देनी चाहिए । इनका मानना था कि शिक्षा ही वह शस्त्र है जिसे धारण कर दलित समाज और दलित नारी अपनी रक्षा और सुरक्षा स्वयं कर सकती हैं । उनकी उठी हुई तर्जनी उसके (कवयित्री के) अन्दर क्रांति में लगे रहने की प्रेरणा जगाती है ।

कवयित्री उसी जीवन को सार्थक मानती है जो पल-पल दलित-स्त्री विमर्श में गुजरता है । कवयित्री सावित्रीबाई फुले जैसी संघर्षशील महिला का उदाहरण देती है जिन्होंने

सम्पूर्ण स्त्री समाज (दलित और गैर दलित) के उत्थान के लिए संघर्ष किया और शिक्षा को सबके लिए अनिवार्य किया । ऐसे लक्ष्यपूर्ण जीवन को ही कवयित्री सार्थक मानती है -

"जीवन उसी का सार्थक है

जो लक्ष्यपूर्ण जीवन जीता है

अपने तक सीमित न रहकर

समाज-हित में जीता है ।"३७

सुशीला जी संघर्षशील क्रान्तिकारी आन्दोलन की पक्षधर हैं । वह कर्म की महत्ता पर बल देते हुए कहती हैं कि व्यक्ति को काम के आधार पर पहचान मिले, उसकी जाति और लिंग के आधार पर नहीं । वह कहती हैं कि वर्षों से हमारी ये जो दयनीय और नारकीय हालत रही है उसके पीछे हिन्दू धर्म का बहुत बड़ा हाथ रहा है । ब्राह्मणवाद ने हमें जितना दिखाया हमने उतना ही देखा जिसके कारण हम पाप-पुण्य, कर्म-फल को अपना भाग्य समझते रहे और अन्याय अत्याचार को सहते रहे । डॉ.अम्बेडकर ने हमारी मुक्ति का मार्ग खोला । उन्होंने समता और सम्मान के लिए जीना सिखाया । किन्तु आज भी कई भंगी समुदाय और अन्य जातियां अपने हित को नहीं समझ पाया है और वह हिन्दू धर्म तथा उसकी नीतियों के बहकावे में ही जीता चला आ रहा है । न तो वह अपना वर्तमान समझ पा रहा है और न ही अपना भविष्य जिसके कारण वह आज भी पिछड़ा हुआ है । कवयित्री कहती है कि मेरा समाज अर्थात (जिस समुदाय से वह संबंध रखती है) भंगी समुदाय आज भी किसी नये अगुवा नेता की राह देख रहा है जो उनकी समस्याओं का निवारण कर सके, उनकी दयनीय और गन्दी स्थिति से निजात दिला सके । सुशीला टाकभौरे इसे दलितों की नासमझी का कारण बताते हुए कहती हैं कि इसे एक संघर्षशील क्रान्तिकारी आन्दोलन में बदलना होगा अन्यथा चाहे दलितों की कितनी भी आर्थिक स्थिति सुधर जाय किन्तु उनकी सामाजिक स्थिति हूबहू बनी रहेगी ।-

"बदलना होगा नासमझ प्रतीक्षा को

संघर्षशील क्रान्तिकारी आन्दोलन में

अन्यथा

पी.एच.डी.प्राप्त कॉलेज की प्राध्यापिका

जाति के नाम पर

आज भी कहलाती रहेगी

सिर्फ झाड़ूवाली ।"३८

कवयित्री अपने समुदाय के लोगों के विचार में परिवर्तन चाहती है । सुशीला टाकभौरे अपनी आत्मकथा **'शिकंजे का दर्द'** की भूमिका में लिखती हैं कि **"नानी द्वारा जीया जीवन मेरा भी जीवन बन सकता था । मैंने उसकी पीड़ा हर दिन, हर क्षण अपने हृदय पर झेली है, मन-मस्तिष्क से उतनी ही वेदना सही है । मेरा दर्द उस शिक्षित सम्मानित दलित महिला का दर्द है जो पी.एच.डी.प्राप्त, कॉलेज की प्राध्यापिका होने के बाद भी जाति के रोजगार के नाम से जानी जाती है । मेरी आत्मकथा मेरी वेदना का दस्तावेज है । इस वेदना-पीड़ा से छुटकारा तभी मिलेगा जब समाज की मानसिकता बदलेगी, जब पूरी समाज व्यवस्था बदलेगी ।"३९**

जिस भारतीय संस्कृति को महान और श्रेष्ठ कहा जाता है, कवयित्री उस पर सवाल करती है कि उसकी श्रेष्ठता और महानता के पीछे आधार क्या है ?

मानव सभ्यता और संस्कृति का इतिहास,

भारतीय संस्कृति का

आधार क्या है ?

क्यों किया अब तक

हम पर अत्याचार ?"४०

कवयित्री हिन्दू धर्म की संस्कृति पर कुठाराघात करते हुए कहती है कि ऐसी संस्कृति को तुम श्रेष्ठ और धन्य मानते हो, जिसमें स्त्रियों को धार्मिक संस्कार जैसे उपनयन संस्कार प्राप्त नहीं थे । यहाँ तक कि विद्योपार्जन पर भी रोक थी तथा वहाँ उसे कोई मानवी अधिकार नहीं प्राप्त है ? वह इसका जवाब मांगती है । कवयित्री आत्मस्वाभिमानी है, वह कहती है कि अब हमने तुम्हारे दया और सहानुभूति पर पलना

छोड़ दिया है । आज हमने हक़ के लिए लड़ना और ईमान के लिए जीना सीख लिया है । आज हमें हमारी पहचान चाहिए जिसे तुमने दया की रोटी से ढक दिया था । वह ऐसी संस्कृति पर कटाक्ष करती है कि अगर भारतीय संस्कृति में सबको मनुष्य माना गया और सभी मनुष्य एक हैं तो फिर हमें (स्त्रियों को) वह मानवीय दर्जा क्यों नहीं दिया गया ? क्या यही है तुम्हारी मानवीय संस्कृति ? वह कहती है कि हम भी मनुष्य की श्रेणी में आते हैं, क्या तुमने यह जानने की कभी कोशिश की ? हिन्दू धर्म में दलितों और स्त्रियों को कभी भी सम्मान के नज़रिये से नहीं देखा गया । कवयित्री कहती है कि शायद तुम्हारे धर्म का आधार यही रहा है जिसमें हम पशुओं से भी बदतर ज़िन्दगी जीने को बाध्य हुए । वह प्रश्न करती है कि हिन्दू भारतीय संस्कृति का स्वरूप क्या है? इस भारतीय संस्कृति में धर्म का दबदबा रहा है कवयित्री इस पर भी टिप्पणी करती है । हमें यह पता होना चाहिए कि भारत में चाहे कोई भी धर्म क्यों न हो सभी में स्त्रियों पर पाबन्दी लगा दी गयी थी । ईश्वर की कृपादृष्टि स्त्री-पुरूष सब पर समान है फिर चर्च हो या मन्दिर या फिर मस्जिद सबमें धर्मगुरू के स्थान पर पुरूषों को ही क्यों रखा गया ? 'ईश्वर के क्रियाकलापों में स्त्री-पुरूष में भेद कैसा और क्यों ? धीरे-धीरे स्त्रियों को भी अब पता चल चुका है कि धर्म की आड़ बनाकर उनके साथ किया गया दोहरा बर्ताव वस्तुतः धर्मगुरूओं की अपनी साज़िश और महत्वाकांक्षाओं की उपज है । इसी समझ ने स्त्रियों में मुक्ति की चेतना को जन्म दिया है ।'

स्त्री समाज से उसके त्याग और बलिदान की जितनी अपेक्षाएं रखी जाती थीं अब वह सिलसिला खत्म हुआ । अब स्त्री केवल त्याग की मूरत नहीं है बल्कि जिस आंच में वो तिल-तिल जलती आयी है उसी आंच को अब वह जंगल की आग में बदलकर रहेगी । यह क्रांति है जो बुझाए नहीं बुझेगी । यह आग सदियों से प्रताड़ित स्त्री का आक्रोश है -

"गल चुकी बहुत मोमबत्तियां

आज वह

जंगल की आग है

बुझाये न बुझेगी

बन जायेगी

आग का दरिया ।"४१

स्त्री चेतना को कवयित्री ने अपनी कविता का आधार बनाया है । अब वह स्वच्छन्द आकाश में उड़ान भरना चाहती है । गुलाम बनाए रखने वाले पिंजरे को तोड़कर स्त्री आजाद (मुक्त) गगन में उड़ान भरना चाहती है, जहाँ पुरूष समाज का कोई नियम न हो । जहाँ पर केवल वह हो, उसका जीवन हो और जीवन शैली उसकी अपनी हो:-

"पंख मेरे फड़फड़ाते हैं

तोड़ने

प्रत्येक पिंजर

श्रृंखलाएं / तिनकों सरीखी

मैं तोड़ देना चाहती हूँ ।"४२

घर की चहारदीवारी में स्त्री का दम घुटने लगा है । वह पूरे संसार में अपना अस्तित्व तलाशना चाहती है । मुट्ठी भर आकाश की अपेक्षा उसकी संवेदनाएं विस्तार पाना चाहती है । अनंत आकाश की लालसा ही उसमें मुक्ति तथा चेतना का भाव दर्शाता है:-

"मुझे अनन्त असीम दिगन्त चाहिए

छत का खुला आसमान नहीं"

आसमान की खुली छत चाहिए

मुझे अनन्त आसमान चाहिए ।"४३

कवयित्री अनन्त आसमान की चाहना रखती है क्योंकि वह दासता की ज़िन्दगी से ऊब चुकी है । उसका मन विद्रोह कर उठा है । वह दोहरा शोषण झेलती है । वह यह महसूस करती है कि उसकी आर्थिक सुदृढ़ता का समाज में कोई विशेष चमत्कारिक प्रभाव नहीं पड़ा है । वह अपनी आर्थिक सुदृढ़ता और अपने दलित समाज जिससे वह सम्बन्ध रखती है, जो सदियों से शोषित, उत्पीड़ित और तिरस्कृत रहा है, की दुर्दशा के बीच तालमेल बिठाती है । यही तालमेल उन्हें समाज के लिए अपने मजबूत इरादों से काम करने की प्रेरणा देती है -

"मेरी जात-जमात तो यह है

मैं चाहे कितनी ही

ऊंचाई पर पहुंच जांऊ

पांव उसी ज़मीन पर हैं

जहाँ मेरी बिरादरी है ।"४४

कवयित्री अपने इसी तिरस्कार और अपमान से दुःखी है-

"मैंने स्वयं इस पीड़ा को भोगा है

मैं कहां हूँ ?

मेरी प्रगति, मेरी स्थिति क्या है ?

दोहरे व्यवहार में छिपी

अपने प्रति घृणा, जुगुप्सा को देख

मन चीत्कार करता है ।"४५

यहाँ कवयित्री अपनी स्थिति का मूल्यांकन करती है । वह अपनी स्थिति को दोहरा मानती है । समाज में उसकी जो छवि बनी हुई है, उससे वह बहुत निराश है । वह आत्म मंथन करती है । अपनी स्थिति तथा अपनी उपलब्धि में उसे दोहरापन दिखायी देता है । समाज में अपने प्रति हिकारत और घृणा, अपमान को देखकर तथा सामाजिक परिवर्तन न होने से उसका मन क्रंदन करता है ।

सवर्णों ने जिस प्रकार दलितों को हेय नजरिए से देखा और उनके साथ अमानुषिक व्यवहार किया उसी तरह दलित पुरूष ने भी दलित स्त्रियों का शोषण और उत्पीड़न किया । उसके अंतर्मन के उद्वेगों, उसकी छटपटाहट तथा उसके सुख-दुःख को कभी समझने की कोशिश नहीं की । कवयित्री यहाँ तिहरे शोषण का वर्णन करती है, जिससे दलित स्त्री सदा उत्पीड़ित है । लिंग, जाति और वर्ग के आधार पर दलित स्त्री बंटी हुई है, जिसके कारण उसका तिरस्कार अपमान तो किया जाता ही रहा है बल्कि उसके अस्तित्व को भी दरकिनार किया गया-

"यह है मन का खेल तुम्हारा

मेरी पीड़ा तुम क्या जानो

टुकड़ा-टुकड़ा बंटी हुई मैं

अपनापन पाने को व्याकुल हूँ ।"४६

कवयित्री कहती है कि मुझे एक ऐसा संसार मिला है जहाँ पर तुम्हारे (पुरूष) खुद के खेल हैं और मैं खिलौना बन तुम्हारे सामने एक माध्यम हूँ जिसका स्पर्श, जिसकी संवेदना कभी तुम्हारे शरीर में सिहरन उत्पन्न नहीं कर सकती, और यहीं से मेरी पीड़ा सिर्फ मेरी हो जाती है और मैं सिर्फ संभोग की पात्र रह जाती हूँ समझ की नहीं ।

कवयित्री के शोषण का दंश इतना गहरा है कि उसकी सोच से उसका मन अन्दर से कांप उठता है । वह शोषक से अपने भले की उम्मीद नहीं करती कि कभी उसका हृदय परिवर्तन होगा और उसकी स्थिति भी बदलेगी । वह अपने कल्याण के लिए स्वयं काम करने में विश्वास रखती है । उसके शोषण का इतिहास इतना लम्बा रहा है कि वह उसे भूल नहीं पाती है । उसका मानना है कि आजादी कभी भी मांगने से नहीं मिलती । आजादी के लिए संघर्ष का रास्ता चुनना पड़ता है । अपने अधिकारों के लिए लड़ना पड़ता है -

"शोषक से उम्मीद न करना

दुश्मन का दिल नहीं बदलता

कितनी पीर सही है हमने

पत्थर का दिल नहीं पिघलता ।"४७

कवयित्री अपने ऊपर हुए अत्याचार को भूल नहीं पाती है, इसीलिए वह कहती है कि-

उनका स्वार्थ निज श्रेष्ठता का है

मानवता भी लज्जित है

कितने अत्याचार हुए हैं हम पर

आज भी तन-मन पीड़ित है ।"४८

स्त्रियों व दलितों पर पुरूषों द्वारा तो अत्याचार हुए ही किन्तु दलित स्त्रियों पर यह मार दुगुनी पड़ी, एक तो सवर्णों से दूसरा अपने ही घरों में अपने पति और पुरूषों द्वारा । एक तरह से कहा जा सकता है कि पूरे भारतीय समाज की स्त्रियां पितृसत्ता के बोझ के नीचे कराह रही थीं लेकिन दलित स्त्रियों को न केवल अपने समाज की पितृसत्ता को झेलना पड़ता था बल्कि सवर्ण समाज की स्त्रियां भी उनका शोषण और दमन करती थी । कवयित्री दलित महिलाओं की वास्तविक स्थिति को चित्रित करती है । उसकी प्रसिद्ध कविता **मेरा अस्तित्व** है, जिसमें वह दलित मध्यम वर्ग की सामाजिक चेतना को उद्घाटित करती है । वह अपने समाज की दशा-दिशा में सुधार करके परिवर्तन लाना चाहती है । वह अम्बेडकर के आन्दोलन से बहुत प्रभावित है । वह उनको अपना प्रेरणा स्रोत मानती है । किन्तु कवयित्री ऐसे लोगों से दुःखी भी है जो गुलामी में ही अपना जीवन जीना चाहते हैं । गुलामी में मस्त झाड़ू को ही जीवन की सच्चाई मान बैठने वालों के सामने एक समाज सेविका की टीस **मेरा अस्तित्व** नामक कविता में दिखायी देती है । वस्तुतः जिनको देखकर कवयित्री के हृदय में उनके न सुधर पाने की टीस पैदा होती है । उन्हें अम्बेडकरवादी स्वाभिमानी चेतना से कोई लेना-देना नहीं है । **मेरा अस्तित्व** नामक कविता में उसने ऐसी ही स्त्री का वर्णन किया है:-

"बगल में दबाये

बांस की लम्बी झाड़ू

रंगीन चटक फूलदार साड़ी

मुंह में पान, हथेली पर तम्बाकू मलती

वह देख रही थी छत पर मेरी ओर ।"

****

"खर्र.....खर्र...झाड़ती

धूल, मिट्टी कचरा समेटती

ले जाती है मेरे अस्तित्व को भी

बटोर कर ।"४९

दलित समाज में आज भी ऐसे लोग हैं जो हिन्दूवादी संस्कारों से मुक्त नहीं हुए हैं । कवयित्री उस 'झाड़ूवाली' की तरफ संकेत करती है जो भाग्यवाद, दैववाद और हिन्दुत्ववाद को अपना सब कुछ मानती है और उसी के अनुसार भाग्य भरोसे अपनी ज़िन्दगी जीती है-

"मेरी बिरादरी चुप है

वह नहीं जानती दिशा ज्ञान

नहीं जानती प्रगति परिवर्तन का मार्ग

आश्चर्य में डूबी वह सब सुनती है

टुकर-टुकर देखती है

फिर भी

विश्वास करती है भाग्यवाद पर

दैववाद पर, हिन्दुत्ववाद पर

वह सोचती है

लग जाएगा बेड़ा पार अपने आप ।"५०

इस कविता में कवयित्री की सामाजिक प्रतिबद्धता प्रतिलक्षित होती है । वह अपनी शिक्षा के उत्तरदायित्व को भली-भांति समझती है । 'मेरा अस्तित्व' कविता एक प्रतिनिधि कविता की श्रेणी में अपना स्थान रखती है । इस कविता में कवयित्री ने हिन्दू धर्म के कर्मकाण्ड और अंधविश्वास पर चोट की है । अपने दलित समाज की स्त्री के माध्यम से वह अपने अस्तित्व का मूल्यांकन करती है कि आर्थिक रूप से सम्पन्न होने के बावजूद मैं एक दलित हूँ जिसे सामाजिक न्याय नहीं मिला ।

कवयित्री दलित स्त्री के अंतर्द्वन्द्व का विश्लेषण भी करती है । अपनी कविताओं में उसने दलित स्त्री के मन के अन्दर जो उथल-पुथल हो रखे हैं, उसका भी उल्लेख किया है । इससे अधिक दयनीय स्थिति क्या होगी कि लिखते समय भी वह 'लिखे या न लिखे' के द्वन्द्व से आजाद नहीं है ? दलित स्त्री पीड़ा के इतने स्तरों से गुज़र चुकी है कि वह समझ नहीं पाती कि अपने लेखन में उसे कैसे बयान करे :-

"वह सोचती है

लिखते समय कलम को झुका ले

बोलते समय बात को संभाल ले

और समझने के लिए

सबके दृष्टिकोण से देखे

क्योंकि वह एक स्त्री है !"५१

एक स्त्री को शोषण के किन-किन पायदानों से गुजरना पड़ता है यह केवल वह स्त्री ही जान सकती है ।

कवयित्री ऐसे धर्म से अपना रोष जताती है, जो केवल अन्याय और अत्याचार की शिक्षा देता हो-

"जिस धर्म का आधार

अन्याय अत्याचार है

शोषण और आडम्बर है

ऐसे धर्म को धिक्कार है ।"५२

कवयित्री हिन्दू धर्म को धिक्कारती है जिसने दलितों के लिए केवल अन्याय-अत्याचार शोषण की रचना की । वह जाति-प्रथा के मूल आधार हिन्दू धर्म, हिन्दू शास्त्र, ब्राह्मणवाद और धर्म के आडम्बर पर जोरदार हमला करती है । इसी तरह के विचार दलित विचारक मलखान सिंह के क्रान्तिकारी कविता 'सुनो ब्राह्मण' में देखा जा सकता है- **"सुनो वशिष्ठ! / द्रोणाचार्य तुम भी सुनो! / हम तुमसे घृणा करते हैं / तुम्हारे अतीत / तुम्हारी आस्थाओं पर थूकते हैं ।"५३** हिन्दू धर्म की अनेक जटिलताओं और उसकी रूढ़ियों की वजह से दलित और स्त्री समाज को अपने मूल अधिकारों से वंचित रहना पड़ा । कवयित्री का जीवन भी इसी धर्म की अनेक परम्पराओं से ग्रस्त था, जिसने उसे नारकीय जीवन जीने पर मजबूर किया ।

भारत को विविधतापूर्ण देश माना जाता है । जहाँ भाषाएं अनेक हैं, जातियाँ अनेक हैं, धर्म, रंग, वेशभूषा, क्षेत्र सभी अनेक हैं । जिसके कारण इसे गौरवशाली माना जाता है । किन्तु इसके दूसरे पहलू को अगर देखे जहाँ जातियाँ और वर्ण तथा वर्ग ने शोषण का एक लम्बा इतिहास रचा । ऊँची जातियों ने हमेशा से नीची जातियों का शोषण ही किया है । भारत की यह विविधता बाहर के देशों को भले अच्छी लगे किन्तु अपने ही देश में इसने मनुष्य के अन्दर विषमतारूपी बीज बोने का काम किया जिसके भुक्तभोगी दलित और स्त्रियाँ हुईं । धर्म ने दलितों और स्त्रियों के हितों की उपेक्षा की । हिन्दू धर्म जिसमें स्त्री और दलित दोंनो ही प्रताड़ना के शिकार थे और हैं । इसके बुनियादी संस्कार दोनों के लिए खोखले सिद्ध हुए जिसने स्त्री और दलितों की स्वतन्त्रता तो छीनी ही, उनसे मनुष्य की ज़िन्दगी जीने का भी अधिकार छीन लिया था । यही कारण है कि आज दलित और स्त्रियाँ अपने अस्तित्व की लड़ाई के साथ-साथ वर्चस्व की लड़ाई लड़ रहे हैं । स्त्रियाँ पुरूषों की कुचालों को भली-भांति जान चुकी हैं । पितृसत्तात्मक व्यवस्था के मायने परिवार में सिर्फ पुरूष का मुखिया होना नहीं है । इस व्यवस्था की रचना चालाकी और धूर्तता के साथ की गयी है और आज भी हो रही है । आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, वैधानिक, सांस्कृतिक व्यवस्था और मूल्यों-मर्यादाओं, संस्कारों, आदर्शों तथा चिन्तन के विभिन्न रूप विचारधाराओं, निर्मितियों, गतिविधियों के जरिये बड़े महीन से इसे रचा-बुना गया है । इन सबके जरिये पितृसत्ता पुरूष को औरत की तुलना में श्रेष्ठ स्थापित करने का पाखंड रचती और फैलाती है ।

मनुवादी ब्राह्मणवादी पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने एक तरफ स्त्री को घर के अंदर क़ैद किया और उसके घरेलू श्रम का अवमूल्यन किया । दूसरी तरफ विभिन्न मूल्यों-मान्यताओं और संस्कारों के जरिये शोषण को सहज एवं स्वाभाविक मान्यता के रूप में मन-मस्तिष्क में बैठाने की कोशिश की ।

सुशीला टाकभौरे ने अपनी कविताओं में जहाँ एक तरफ स्त्री जाति की पीड़ा, उसके शोषण, अत्याचार के चित्र खींचे हैं, वहीं दूसरी तरफ दलित स्त्रियों के भी मार्मिक चित्र खींचे हैं । उन्होंने अपनी कविताओं में मनुवादी पितृसत्ता के षड्यंत्रकारी सोच को बेनकाब किया है जिसने हमेशा से स्त्रियों को दासता की ज़िन्दगी जीने पर मजबूर किया । वह स्त्री के खोये हुए अधिकारों को प्राप्त करने के लिए संघर्ष की सलाह देती है । सुशीला जी ने डॉ.अम्बेडकर, महात्मा फुले तथा सावित्रीबाई फुले से आदर्श ग्रहण किए हैं तथा उनके आन्दोलन और विचारधारा से अपना सम्बन्ध रखती हैं । यह उनकी

प्रेरणा से ग्रहण किए गए आदर्श हैं, जो लोगों के अन्दर समतामूलक जीवन जीने का भाव जगाते हैं । वह बहुआयामी, सुखद स्वप्नों की कवयित्री हैं, तथा दलितों की भी स्वतन्त्रता का स्वप्न उनकी आंखों में बसा है । उनकी कविताएं समता-स्वतन्त्रता तथा बंधुता का भाव तो जगाता ही है, मानव मुक्ति का भी संदेश देता है ।

सुशीला टाकभौरे पूरे समाज में क्रान्ति लाना चाहती हैं जिससे सामाजिक परिवर्तन हो और व्यवस्था में सुधार आ सके । उनका कविता संग्रह 'यह तुम भी जानो' की भूमिका में डॉ.विमल कीर्ति ने यूरोपीय दार्शनिक बर्टेन्ड रसेल का उद्धरण देते हुए लिखा है कि- **"समाज में एक वैज्ञानिक का जो महत्व होता है वही महत्व एक कवि या रचनाकार या साहित्यकार का भी होता है । जिस प्रकार वैज्ञानिक अपनी खोज से समाज में एक क्रान्ति पैदा करता है उसी प्रकार एक कवि, साहित्यकार नयी संकल्पना को जन्म देकर समाज के मानस में क्रान्ति के बीज बो देता है । इसलिए समाज में उसका अपना महत्व होता है । समाज के हर युग में कवि, लेखक, चिन्तक साहित्यकार पैदा हुए हैं । उन्होंने समाज में साहित्यकार के रूप में भी सम्मान पाया है । लेकिन सभी साहित्यकार क्रान्तिकारी, परिवर्तनवादी नहीं है । साहित्यकार होना कोई बड़ी बात नहीं है । लेकिन क्रान्तिकारी, परिवर्तनवादी, विद्रोही-साहित्यकार होना, अपने युग से लोहा लेना, अपनी रचनाओं से अपनी कृतियों से, अपनी वाणी से जनमानस को झकझोरना बड़ी बात है । जो समय के दबाव से बदलते हैं वह क्या बदलना है? बदलना तो वह है जो अपनी चेतना से बदलते हैं ।"५४** विमल कीर्ति द्वारा बर्टेन्ड रसेल के इस पूरे विचार का प्रभाव डॉ.सुशीला टाकभौरे पर देखा जा सकता है । वह अपनी शिक्षा और संघर्ष की चेतना से सम्पूर्ण समाज में बदलाव लाना चाहती हैं ताकि सभी मनुष्य परस्पर बंधुता भाव से रहें । कवयित्री ने अपनी कविता में बहुत ही उत्तेजक और सार्थक बिम्बों का चयन किया है जो एक सफल क्रान्ति में सहायक होते हैं । 'आग', मशाल, चिन्गारियाँ , बाण ,शोला, झंकार आदि शब्दों के माध्यम से वह अपनी चेतना को अभिव्यक्त करती है । भूकम्प, बवंडर और ज्वालामुखी से वह उपमा देती है । 'भूकम्प' शब्द कवयित्री के अन्दर हो रही बेचैनी तथा उसके मन में चल रही उथल-पुथल को दर्शाता है । इसी बेचैनी के चलते वह स्थापित व्यवस्था में परिवर्तन लाने की और सामाजिक न्याय की बात करती है और अपने निजी जीवन से परे, व्यापक स्तर पर पूरे नारी समाज तथा शोषित, प्रताड़ित तथा हिंसा और लूट के शिकार बने लोगों के ज़ेहन में सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करने की चेतना जगाने की चेष्टा करते हुए वह आग, मशाल, बाण जैसे

बिम्ब के सहारे एक सम्भाव्य क्रान्ति की ओर संकेत करती है । कवयित्री कविता की बनी-बनायी परम्परा को तोड़ती है । वह भारतीय पुरूषवादी संस्कृति पर कुठाराघात करती है । उसे अलोकतांत्रिक ठहराती हुई, समाज के लिए अकल्याणकारी सिद्ध करती हुई नए समाज का निर्माण करती है जिसमें सभी मनुष्य समान हो । कोई भी किसी के प्रति कुटिलता से पेश न आये । वह शोषितों में शोषण के खिलाफ विरोध की भूमिका का प्रबल पक्ष चाहती है ।

सुशीला टाकभौरे स्त्री समाज में चेतना जगाकर उसे आत्मनिर्णयी और स्वावलम्बी बनाना चाहती हैं ताकि वे अपने अधिकारों की लड़ाई स्वयं लड़ सके । कवयित्री ने अपनी कविताओं में भाषा के सरल और सुबोध रूप का प्रयोग किया है । उनके बिम्ब-विधान और प्रतीक काफी अर्थपूर्ण और स्पष्ट हैं । उनकी भाषा उनके विचारों की भांति ही पैनी और चेतना की अभिव्यक्ति के लिए प्रासंगिक शब्दावली से लैस है ।

सुशीला टाकभौरे की कविताओं में स्त्री-चेतना का सबल रूप दिखायी देता है । वह समस्त स्त्री-जाति को संघर्षशील और शिक्षित बनाना चाहती हैं । अम्बेडकर और फुले दम्पत्ति को अपनी प्रेरणा का स्रोत मानने वाली यह कवयित्री अपने समाज में स्त्रियों की स्थिति में आमूलचूल परिवर्तन चाहती है ।

संदर्भ ग्रंथ सूची:-

1. स्त्री-मुक्ति का सपना: अरविन्द जैन, लीलाधर मंडलोई, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-२०१।
2. सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-२३ ।
3. 'तुमने उसे कब पहचाना' (काव्य संग्रह), भूमिका, डॉ.सुशीला टाकभौरे, शरद प्रकाशन, नागपुर,पृष्ठ संख्या-१० ।
4. सुशीला टाकभौरे-शिकंजे का दर्द, भूमिका, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण २०११ ।
5. सुशीला टाकभौरे-शिकंजे का दर्द, भूमिका, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण २०११ ।
6. सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-१८ ।
7. सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-१९ ।
8. साभार-स्त्रीत्व का मानचित्र -अनामिका, सारांश प्रकाशन,पहला संस्करण:१९९९, पृष्ठ संख्या-२३, The Origins of The Family, Private Property and the State, in K. Marx and F. Engels, Selected Works, Vol.3, Progress Publishers, Moscow, 1906, page no-191-334 ।
9. सुशीला टाकभौरे-शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२०११, पृष्ठ संख्या-३८।
10. सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-२१ ।
11. सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-२१ ।
12. सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-२४ ।
13. सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-२३ ।
14. सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-२३ ।
15. सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-३४ ।
16. सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-६० ।
17. सुशीला टाकभौरे-शिकंजे का दर्द, भूमिका, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण २०११ ।

18.निर्मला पुतुल-अपने घर की तलाश में, काव्य संग्रह,पृष्ठ संख्या-२० ।

19.सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-५५ ।

20.सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-५६ ।

21.सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-१३ ।

22.सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-१५ ।

23.सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-१५ ।

24.साभार, प्रभा दीक्षित-एक मुकम्मल औरत का ख़्वाब: ए रूम ऑफ़ वन्स ओन-वर्जीनिया वुल्फ़, आजकल:मार्च२०१२,पृष्ठ संख्या-३३ ।

25.सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-१६ ।

26.सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-२५ ।

27.सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-२५ ।

28.सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-२७ ।

29.सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-२७ ।

30.डॉ.श्यौराज सिंह बेचैन, डॉ.रजतरानी मीनू (सं) -दलित दखल, श्री साहित्यिक संस्थान, लोनी गाजियाबाद, संस्करण:२००१ पृष्ठ संख्या-१८१ ।

31.सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-३४ ।

32.सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-४१ ।

33.सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-४३ ।

34.सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-३८ ।

35.सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-४८ ।

36.संपादक-अभय कुमार दुबे-आधुनिकता के आईने में दलित, पृष्ठ संख्या-२३० ।

37.सुशीला टाकभौरे-हमारे हिस्से का सूरज (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-४९ ।

38.सुशीला टाकभौरे-शिकंजे का दर्द, भूमिका, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण २०११ ।

39.सुशीला टाकभौरे-हमारे हिस्से का सूरज (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-१२ ।

40.सुशीला टाकभौरे-हमारे हिस्से का सूरज (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-५१ ।

41.सुशीला टाकभौरे-हमारे हिस्से का सूरज (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-४० ।

42.सुशीला टाकभौरे-हमारे हिस्से का सूरज (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-६१ ।

43.सुशीला टाकभौरे-हमारे हिस्से का सूरज (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-४७ ।

44.सुशीला टाकभौरे-हमारे हिस्से का सूरज (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-१४ ।

45.सुशीला टाकभौरे-हमारे हिस्से का सूरज (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-१२ ।
46.सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-६१ ।
47.सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-६१ ।
48.सुशीला टाकभौरे-हमारे हिस्से का सूरज (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-६५ ।
49.सुशीला टाकभौरे- हमारे हिस्से का सूरज (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-१३ ।
50.सुशीला टाकभौरे-हमारे हिस्से का सूरज (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-१५ ।
51.सुशीला टाकभौरे-तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-४९ ।
52.सुशीला टाकभौरे-हमारे हिस्से का सूरज (काव्य संग्रह), पृष्ठ संख्या-३५ ।
53.कंवल भारती -दलित निर्वाचित कविताएं, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण:जनवरी २००६, पृष्ठ संख्या-५१ ।
54.सुशीला टाकभौरे -यह तुम भी जानो (काव्य संग्रह) भूमिका, शरद प्रकाशन नागपुर ।

चौथा अध्याय

सुशीला टाकभौरे की कविताओं में दलित चेतना

ये कोटि-कोटि दलित, शोषित मानव
स्वयं सूरज बन जायेंगे
इनसे उपजी सन्तान, भावी पीढ़ी
संसार में युग परिवर्तन लायेगी
जीवन में सुख की, प्रगति की
सरिता बहायेगी
काल को जीत लेगी ।

-सुशीला टाकभौरे

"दलितों को सिर्फ हल की मूठ पकड़े रहने से मुक्ति नहीं मिलनी है, बल्कि मुक्ति के लिए उन्हें हलों को हथियार में भी बदलना होगा ।"

-डॉ.अम्बेडकर

"सुविधा का समझौता करके

सिर नहीं झुकाना है

सम्मान-ज्ञान से परिपूर्ण जीवन बिताना है ।"१

-सुशीला टाकभौरे, तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह)

उपर्युक्त काव्य पंक्तियों में दलित चेतना का स्वर मुखरित होता है । इन पंक्तियों से यह साफ-साफ स्पष्ट हो जाता है कि दलितों को अभी भी सामाजिक न्याय नहीं मिला है । इसीलिए कवयित्री कहती है कि भले हमें लाख सुख-सुविधाएं तथा तरह-तरह के प्रलोभन देकर यह भारतीय हिन्दू समाज अपना हाथ छुड़ा ले, जब तक हमें सामाजिक न्याय नहीं मिलेगा तब तक हमें संघर्ष करना है । वह इस समाज में अपने अस्तित्व, अस्मिता तथा पूरे आत्मसम्मान के साथ जीना चाहती है । यह सुशीला टाकभौरे की दलित चेतना है ।

यह गौरतलब है कि दलितों को आर्थिक लाभ (आरक्षण) तो दे दिया गया जिससे उनकी आर्थिक स्थिति तो सुधर गई किन्तु उनकी सामाजिक स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया । कहीं-कहीं आज भी उन्हें भंगी, चमार, शूद्र इत्यादि कहकर संबोधित किया जाता है । इसीलिए दलित कवयित्री सामाजिक चेतना को महत्व देती है ताकि दलितों को भी समाज में सामाजिक अधिकार मिल सके और वे आत्मसम्मान की ज़िन्दगी जी सकें । यह बुनियादी बात दलित कवि कंवल भारती की इन पंक्तियों से भी जाहिर है-

"गरीबी नहीं

सामाजिक बेइज्जती अखरती है ।"(तब तुम्हारी निष्ठा क्या होती ?, काव्य संग्रह)

इसी तरह रमणिका गुप्ता भी दलित चेतना का आशय स्पष्ट करते हुए लिखती हैं कि- **"दरअसल दलित चेतना सामाजिक चेतना का दूसरा नाम है । भारत का पूरा का पूरा समाज एक पक्षीय और एक तरफा था, जिसमें समाज के बड़े हिस्से को जड़, मृत, पशुवत बना दिया गया था । दलित चेतना उस जड़ता और पशुता को तोड़ती है ।"२**

दलित चेतना भारतीय जाति व्यवस्था की कोख से या कहें कि अस्पृश्यता की दारूण वेदना से पैदा हुई है । यह सदियों से सताए हुए लोगों की पीड़ा की अभिव्यक्ति है । लेकिन यह मूक अभिव्यक्ति मात्र नहीं है, इसमें अस्वीकार, निषेध, विद्रोह और संघर्ष की आग भी है । इसकी आंच से उनका तिलमिला उठना स्वाभाविक है, जो अपनी जड़ता में दूसरों की वेदना महसूस नहीं कर पाते । कोई भी इस तथ्य से इनकार नहीं कर सकता कि भारत में दलितों के साथ अमानवीय सलूक हुआ है । इस सामाजिक अन्याय को देखते हुए दलित चेतना के उभार का विरोध कतई जायज़ नहीं है ।

हिन्दी का दलित साहित्य देशव्यापी दलित चेतना की उपज है । बुद्ध, कबीर, फुले और बाबा अंबेडकर इनकी प्रेरणा के स्रोत हैं । ख़ासतौर से बाबा साहेब अंबेडकर ने दलितों को उनकी गुलामी का अहसास कराया और उन्हें वाणी दी । उनकी प्रेरणा तथा मराठी के दलित साहित्य के प्रभाव स्वरूप हिन्दी में जो दलित लेखन हुआ है, उसने दबी-कुचली मौन ज़िन्दगी की मुखरता को एक नया आयाम दिया है । इसे परंपरागत काव्य प्रतिमानों के आधार पर परखने की ज़रूरत नहीं है । इसमें एक जाति समूह के अनुभव की प्रामाणिकता है, उसकी अस्मिता-निषेध की पीड़ा है इसीलिए इसमें ललकार है, कटुता है, आक्रामकता है, अस्वीकार है, क्षोभ है, सीधा तर्क है, और एक नया तेवर है ।

दलित चेतना के बगैर दलित साहित्य का कोई आधार नहीं है । दलित चेतना डॉ.अम्बेडकर के जीवन दर्शन और विचार से ओत-प्रोत है । 'दलित चेतना' सामाजिक पदानुक्रम **(hierarchy)** का नकार है । यह मनुष्य को उसके मनुष्य रूप में स्वीकार करने की चेष्टा है जहां दलितों के अस्तित्व बोध का संघर्ष अपनी तीव्रतम स्थिति में हमारे सामने है । स्वयं को समाज में स्वतन्त्र रूप से खड़ा करने की जद्दोजहद है । दलित चेतना अमानवीय व्यवस्था से बाहर आकर मानवीय सरोकारों की पक्षधरता के लिए प्रतिबद्ध है ।

ओमप्रकाश वाल्मीकि 'दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' में लिखते हैं कि -"**दलित चेतना का सरोकार इस प्रश्न से बहुत गहरे तक जुड़ा है कि 'मैं' कौन हूँ ? मेरी पहचान क्या है ? इसी सवाल से दलित लेखक की रचनाशीलता को ऊर्जा मिलती है ।"३**

डॉ.अम्बेडकर के ये विचार और मान्यताएं ही दलित साहित्य का आधार और प्राण हैं । सुशीला टाकभौरे की कविताएं भी डॉ.अम्बेडकर के इन्हीं विचारों से प्रेरणा ग्रहण करती हुई दिखायी देती हैं । कवयित्री सुशीला टाकभौरे का मानना है कि दलित साहित्य में उपेक्षा, अपमान, पीड़ा की अभिव्यक्ति है साथ ही आजादी के बाद की पीढ़ी की वाणी इसमें मुखरित हुई है । उसका सदियों का गूंगापन टूट गया है । उसके भीतर का आक्रोश ज्वालामुखी की तरह फूट पड़ा है । इसलिए दलितों में अगर सदियों के संताप की अभिव्यक्ति यदि कुछ ज्यादा दिखायी देती है, तो यह स्वाभाविक ही है । दलित साहित्य दलितों को उनकी वास्तविक स्थिति से साक्षात्कार कराता है । उनके कारणों का उन्हें ज्ञान कराता है । जिसकी वजह से वे दलित बने । ऐसी स्थिति में दलित साहित्य उनमें चेतना उत्पन्न करने में ऊर्जा का काम करता है ।

प्रस्तुत अध्याय में सुशीला टाकभौरे के दो प्रमुख काव्य संग्रह **'हमारे हिस्से का सूरज'** तथा **'यह तुम भी जानो'** की मुख्य कविताओं में दलित चेतना के प्रभावी और मारक चित्रों की पड़ताल करने की कोशिश की गयी है । इन काव्य संग्रहों में संकलित प्रमुख कविताएं जैसे **'यातना के स्वर', 'बलि के बकरे', 'जय भीम', 'अब तो शर्म करो', 'आक्रोश', 'हम जान गए हैं', यातना से विचलित मन', 'बदलते प्रतिमान', 'साहस', 'जागरण के बाद', 'आग का धर्म', 'पूर्ण करेंगे हम', 'दलित चेतना', 'भ्रमजाल', 'ठहरो नहीं आगे बढ़ो', 'हम दलित' 'बदलेगा कुंठित मानस', 'दलितों के मसीहा', 'स्वयं को पहचानो', तथा 'व्यंग्य आघात और विषपान'** इत्यादि कविताओं में दलित चेतना की ओजपूर्ण अनुगूंज सुनायी देती है तथा ओजस्वी और प्रखर स्वर अपने बुलन्दी पर सुनायी पड़ता है । सुशीला टाकभौरे अपनी कविताओं में दलित चेतना की अभिव्यक्ति की पुष्टि करते हुए अपने लेख 'दलित साहित्य में स्त्री प्रश्न साकारात्मक है' में लिखती हैं- **"१९९३ में नागपुर के 'दलित साहित्यकार सम्मेलन' ने मुझे बहुत प्रभावित किया । इसके पहले की लिखी रचनाओं का संकलन 'स्वाति बूंद और खारे मोती'-काव्य संग्रह के रूप में आया । १९९३ के बाद की मेरी सभी कविताएं दलित चेतना और अस्मिता से संबंधित हैं- जो कि काव्यसंग्रह 'यह तुम भी जानो'(१९९४) और 'तुमने उसे कब पहचाना'(१९९५) के रूप में प्रकाशित हुआ ।"४**

सुशीला टाकभौरे फुले और अम्बेडकरी विचारधारा को दलित साहित्य की रीढ़ मानती हैं । वह कहती हैं कि इससे पहले भी सन्तों की विचारधारा दलितों के प्रति सहानुभूति के रूप में थी वे दलितों की स्थिति के प्रति समाज को लताड़ते जरूर थे । मगर हिन्दू धर्म की वर्ण व्यवस्था का खुल कर विरोध नहीं करते थे वे दलितों के प्रति दया और सहानुभूति का ही संदेश देते थे । किन्तु अम्बेडकर जी जिन्होंने दलित होने के कारण स्वयं इस पीड़ा को भोगा था और महात्मा फुले जिन्होंने दलितों की पीड़ा को बहुत नजदीक से देखा था-उनकी विचारधारा दया और सहानुभूति से भरकर दलितों को मात्र सांत्वना ही नहीं देती है बल्कि दलितों को संगठित होकर संघर्ष करने का मनोबल देती है, अन्याय के खिलाफ विद्रोह करना सिखाती है और अपने अधिकारों को लड़कर प्राप्त करने का निर्देश देती है । इस आधार पर कवयित्री फुले और अम्बेडकर की विचारधारा को दलित साहित्य की रीढ़ मानती हैं । कवयित्री डॉ.अम्बेडकर के जीवन-दर्शन से मुख्य ऊर्जा ग्रहण करती हैं । वह उन्हें क्रांतिसूर्य मानती हैं जिन्होंने अथक परिश्रम से इस संसार में जातिविहीन समाज की स्थापना के लिए क्रांति की । कवयित्री कहती है -

"लाख कोशिशें की हैं दुश्मनों ने

हमारे हिस्से के सूरज को ढांकने की

फिर भी

चमका है दुनिया के आकाश में

हमारा क्रांतिसूर्य ।"५

जिस प्रकार सूर्योदय नयी ऊर्जा, नये विचार, नयी लालिमा लेकर आता है, उसी तरह कवयित्री डॉ.अम्बेडकर को क्रांतिसूर्य मानती है जिन्होंने दलितों में नये विचार तथा उनमें चेतना का संचार किया, 'शिक्षा, संगठन, संघर्ष' का नारा दिया, जिससे इस शक्ति को आत्मसात कर पूरा दलित समाज अपने अधिकारों को प्राप्त कर सके । डॉ.अम्बेडकर के विचार, चिन्तन और संघर्ष की तेजस्विता को दलित समाज अपने अन्तर्मन में स्वाभिमान और चेतना पैदा कर अपने समाज में परिवर्तन की क्रांति ला सकते हैं किन्तु डॉ.अम्बेडकर का चिन्तन, विचारधारा की ऊर्जा दलितों तक न पहुंचे, इसके लिए जाति, वर्णवाद तथा पूंजीवाद का आपसी गठजोड़ निरंतर प्रयत्नशील रहता है और सदियों से

शोषित, उत्पीड़ित दलित इनके बहकावे में आकर अपने हिस्से के सूरज से वंचित रह जाते हैं । इस प्रकार उनका अस्तित्व सिमट कर रह जाता है । कवयित्री **'हमारे हिस्से का सूरज'** शीर्षक कविता में डॉ.अम्बेडकर के अथक परिश्रम को रेखांकित करती है जिन्होंने दलितों को एक मनुष्य की ज़िन्दगी जीना सिखाया । किन्तु कुछ दलित अभी भी अज्ञानता में भटक रहे हैं । कवयित्री उन षड़यन्त्रकारी ब्राह्मणवादी तथा जातिवादी लोगों के साजिशों का भी पर्दफाश करती है, जिन्होंने डॉ.अम्बेडकर के आन्दोलन में अनेक बाधाएं पहुंचाईं । हम जानते हैं कि महाड़ आन्दोलन(१९२७) में तालाब का पानी पीने, नासिक के कालाराम मन्दिर(१९३०) में दलितों के प्रवेश को लेकर अम्बेडकर ने बहुत बड़े स्तर पर आन्दोलन चलाया था जिसे ब्राह्मणवादियों और वर्णव्यवस्था के हिमायती लोगों ने नाकाम करने की पूरी कोशिश की । फिर भी डॉ.अम्बेडकर ने पूरी तरह से अपनी लड़ाई जारी रखी, उन्होंने अपने कदम पीछे नहीं हटने दिए और इस आन्दोलन में उन्हें सफलता हासिल हुई ।

भारतीय समाज में समय-समय पर जन्म लेकर महान विभूतियों ने सामाजिक परिवर्तन का प्रकाश फैलाया है जिसमें डॉ.अम्बेडकर के योगदान को कभी भी विस्मृत नहीं किया जा सकता । कवयित्री इस बात से चिन्तित है कि इन सबके बावजूद दिग्भ्रमित होकर अंधकार का आश्रय क्यों लिया जा रहा है ? वह दलितों की अज्ञानता पर तरस खाती है जो कुछ जानना और समझना तो दूर सीखना भी नहीं चाहते । इसी चिन्ता को कवयित्री अपनी कविता में प्रकट करती है -

"हमारे हिस्से का सूरज

क्रांतिसूर्य चमक रहा है

प्रगति, समाज-परिवर्तन का प्रकाश

फैला है, सब तरफ

फिर भी ये, अंधेरे में भटक रहे हैं ।

अपने हिस्से का सूरज

आँखे मूंदकर ढूंढ रहे हैं ।"६

कवयित्री कहती है कि डॉ.अम्बेडकर ने दलितों को उनकी गुलामी से तथा नारकीय जीवन से मुक्ति दिलाकर उनके लिए प्रगति और प्रकाश का मार्ग प्रशस्त किया । फिर भी कुछ लोग, जिन्हें अभी भी लगता है कि उनके लिए इस धरती पर कोई दूसरा नेता अवतार लेगा जो उन्हें उनकी पीड़ा, कष्टों और नारकीय ज़िन्दगी से मुक्त करेगा, वे इसी प्रतीक्षा में अंधकार में भटक रहे हैं । इसी सन्दर्भ में संजीव खुदाशाह अपने लेख 'दलित चेतना और भंगी समुदाय' में लिखते हैं कि -**"नागपुर के कतिपय भंगी जाति के लोगों को नज़रअंदाज कर दें तो इन भंगी जाति के लोगों में अम्बेडकर के आन्दोलन की जूं अभी तक नहीं रेंगती उल्टे वे यदा-कदा यह कहते देखे जाते हैं कि, ये तो महार थे उन्होंने महारों के लिए किया हमारे लिए क्या किया । किन्तु इसका दुखद पहलू यह है कि यह समाज डॉ.अम्बेडकर के द्वारा प्रदत्त सुविधा जैसे समानता का अधिकार तथा आरक्षण का अधिकार का भरपूर उपयोग करता है । इससे भी ज्यादा सोचनीय तथ्य यह है कि ऐसा सिर्फ अनपढ़ लोग ही नहीं करते बल्कि पढ़े-लिखे तथा ऊंचे पदों में आने वाले लोग भी ऐसा ही करते पाये जाते हैं । इस आन्दोलन में रूकावट डालने वाली वे ताकतें बीच-बीच में सक्रिय हो जाती है जो इन्हें संस्कृति के नाम पर, अंधविश्वास के नाम पर, दूसरे जन्म के नाम पर गुमराह करती रहती है । साथ ही इन्हें अपने बारे में तथा अपने अस्तित्व के बारे में सोचने के संबंध में कमजोर ही बनाती है । निश्चय ही इसका कारण इन जातियों में चेतना की कमी से है । वे अभी भी शोषक एवं उद्धारक में फर्क नहीं कर पा रहे हैं ।"७**

बात साफ है कि यह ब्राह्मणवादी और पूंजीवादी समाज उन्हें आर्थिक लाभ या प्रलोभन देकर सामाजिक न्याय के लिए सोचने का मौका तक नहीं देता । इसके साथ ही दलित समाज के अन्दर की जातियां और उपजातियां जो गुटबाजी करती आयी हैं उससे यही देखा जा सकता है कि अभी भी कुछ दलित अज्ञानता, अशिक्षा तथा चेतना की कमी के कारण भटके हुए हैं तथा एक नये अगुवा नेता के रूप में अपने हिस्से के सूरज को आंखे मूंदकर ढूंढ रहे हैं ।

"क्रांतिसूर्य चमक रहा है

तब भी

हमारे अपने कुछ लोग

अंधेरे के अभ्यस्त

आंखे मूंद कर ही चलते हैं ।"८

यहाँ कवयित्री ने **'हमारे अपने कुछ लोग'** शब्द का प्रयोग किया है । ये अपने कुछ लोग उसी समाज से हैं जिससे कवयित्री भी संबंध रखती है । सुशीला टाकभौरे भंगी समाज में जन्मी एक दलित महिला हैं । डॉ.अम्बेडकर के दलित आन्दोलन से समस्त दलित समुदाय में दलित चेतना आयी जिसके कारण ही वे अपने खोये हुए अधिकार को पाने के लिए चेतनाशील हुए । सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक अधिकारों की मांग आज वे अपना अधिकार समझ कर कर रहे हैं । इस भारतीय हिन्दू समाज में दलितों को पढ़ना मना था, किन्तु शिक्षा का अधिकार मिलने से वे आज पढ़-लिख गए । भले इसका बाकी समाज विरोध करता रहा, पर इन सब विरोधों के बावजूद, शिक्षा से वंचित समाज का एक बड़ा तबका पढ़-लिख गया । इतना ही नहीं, वह शिक्षित होने के कारण ही सचेत होकर सोचने और प्रश्न पूछने लगा । वह खोज करने लगा कि उसकी स्थिति का जिम्मेवार कौन है? वह अपने इतिहास की पड़ताल करने लगा ।

भारत में सफाई-कर्मी वंचितों में भी वंचित जमात है जिसे भंगी समुदाय भी कहा जाता है । वे आज भी सिर पर मनुष्य का मैला ढो रहे हैं । कई सफाईकर्मी संगठन इस 'शर्म' के धंधे को बन्द करने को तैयार नहीं हैं । वे मजदूरी बढ़ाने या औजारों की तकनीक सुधारने की मांग करके ही संतुष्ट हैं । वे यह नहीं समझते कि ये दोनों मांगे, जब तक उन्हें इस काम से मुक्ति नहीं मिलती, इस बीच के समय में राहत तो अवश्य दे सकती हैं, लेकिन स्वाभिमान नहीं दिला सकतीं । समाज में अस्पृश्य कहकर उन्हें हेय दृष्टि से देखा जाता है । यह तबका आर्थिक लाभ के बारे में तो सोचता है किन्तु अपनी सामाजिक स्थिति को सुधारने और सामाजिक प्रतिष्ठा के बारे में नहीं सोचता । दरअसल जो लोग आर्थिक स्थिति के कारण इस पेशे से जुड़ते हैं वे इस बात पर जरा भी ध्यान नहीं देते कि मनुवादी ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने इन्हें आर्थिक तौर पर तो वंचित किया ही है, लेकिन उसके साथ-साथ इन्हें सामाजिक तौर पर भी बहिष्कृत करके, यह गंदा काम दंडस्वरूप उनसे करवाया । इन दंड स्वरूप कार्य करने वालों को एक जाति विशेष का नाम दिया गया और उस जाति में जन्म लेने वाला हर व्यक्ति, चाहे वह यह पेशा करे या न करे, अस्पृश्य बना दिया गया । इस जन्म की अवधारणा को बड़ी चालाकी से मनुवादी तत्वों ने पिछले जन्म के पाप-पुण्य से ही नहीं जोड़ा बल्कि,

भाग्य का फल भी घोषित कर दिया-धार्मिक दंड तो इसे पहले ही करार दिया गया था । कवयित्री इसी पाप-पुण्य की भूल-भूलैय्या से भ्रमित दलितों का चित्रण अपनी कविता 'यातना के स्वर' में करती है -

"दलित-पीड़ित, अपाहिज पीढ़ियां

न कुछ समझ पाईं, न कुछ कह पाईं

अपना दुःख दर्द !

अन्याय अत्याचार को

समझती रहीं जीवन का यथार्थ

कर्मों का फल, ईश्वर का श्राप

पाप-पुण्य से भ्रमित वे नहीं जान पाईं

जीवन में प्रगति का मार्ग ।"९

भारतीय समाज की सबसे बड़ी विडंबना, धर्म एवं पाप-पुण्य का सहारा लेकर, वर्चस्व की प्रवृत्ति को बढ़ाने की रही है । इस भ्रम में शोषित-पीड़ित जन अपने शोषण को कर्मों का फल मानकर विकास नहीं कर पा रहे हैं ।

दलितों की इसी अज्ञानता के कारण कवयित्री का हृदय बहुत ही आहत होता है । कुछ दलित हिन्दू धर्म के अन्धविश्वास तथा नियतिवाद में विश्वास करते हैं । वे अपने दुःख और शोषण को अपनी नियति समझते हैं । इसी कारण वे प्रगति के मार्ग से अभी भी बहुत दूर हैं । कवयित्री दलितों की इस स्थिति के पीछे 'हिन्दू धर्म' की षड्यन्त्रकारी प्रवृत्तियों का हाथ मानती है । वह हिन्दू धर्म की नीतियों को कटघरे में खड़ा करती है । वह कहती है कि डॉ.अम्बेडकर ने दलितों को उनके सम्मान के लिए संघर्ष करना सिखाया, फिर भी अस्पृश्यता से अभिशप्त समाज अपने हित को समझने में असमर्थ रहा ।

"हिन्दू धर्म-नीति के बहकावे में

नहीं देख सका अपना वर्तमान और भविष्य !

आज भी पिछड़ा है

अछूत, अन्त्यज, दलितों में दलित ।"१०

दलितों की दयनीय स्थिति के पीछे सबसे बड़ा कारण हिन्दू धर्म से उनका जुड़ाव है । दलित हिन्दू धर्म के अंधविश्वास, परंपरा, अनुष्ठान, रूढ़िगत विकृतियों और पुराने संस्कारों से आज भी जोंक की तरह चिपके हुए हैं जो उन्हें जातीय खांचों में फिट करके सदैव गुलाम बने रहना सिखाता है । उन्हें अपनी वर्तमान स्थिति के बारे में पता नहीं कि उनकी स्थिति ऐसी क्यों है ? भविष्य के प्रति भी उनका कोई खास रूझान नहीं है । अम्बेडकर के आन्दोलन का इन पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा और ना ही ये अम्बेडकरी विचारधारा से अपना सम्बन्ध रखना चाहते हैं । इसीलिए बौद्धिक स्तर पर ये आज भी पिछड़े हुए हैं ।

कवयित्री डॉ.अम्बेडकर को अपना सूरज मानती हैं । उन्हें प्राकृतिक सूरज की अपेक्षा डॉ.अम्बेडकर से ऊर्जा मिलती है । अम्बेडकर ही दलितों के ऐसे नेता हैं जिन्होंने दलितों के दुःख, शोषण को पूरे संसार में उनके सामने रखा तथा पशु से भी बदतर जी रहे जीवन से दलितों को मुक्त कर उन्हें समता, आत्मसम्मान के अधिकारों के लिए संघर्ष करने का महामंत्र दिया । कवयित्री कहती है-

"क्रांतिसूर्य डॉ.भीमराव अम्बेडकर ने

पूरे विश्व के समक्ष

दलितों की पीड़ा को बताया

समता सम्मान अधिकार के लिए

दलितों को लड़ना सिखाया ।"११

कवयित्री आज चेतनशील और शिक्षित होने के कारण ही शोषण भरी ज़िन्दगी से निजात पा सकी है । वह अपनी वर्तमान सम्मानित स्थिति के लिए डॉ.अम्बेडकर को ही अपना एकमात्र सहारा मानती है । अम्बेडकर ने ही इन्हें सदियों के संताप, यातना और व्यथापूर्ण जीवन से मुक्त कराया । उन्होंने समस्त उत्पीड़ित समाज में दलितों और स्त्रियों में चेतना का अलख जगाया । अपने अस्तित्व का पूरा श्रेय वह उन्हें ही देती है

जिनके कारण आज उसकी भी अपनी कोई पहचान है । कवयित्री **'जयभीम'** शीर्षक कविता में डॉ.अम्बेडकर के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती है -

"भीम तेरे काम ने

हमको दिया नाम है

बच्चा-बच्चा आज करता

तेरा ही गुणगान है ।"१२

डॉ.अम्बेडकर ने हजारों सालों की जड़ता को तोड़कर अपनी शिक्षा का उपयोग करोड़ों लोगों के जीवन को सुधारने के लिए किया । उनमें मानव जैसा ही जीवन व्यतीत करने की चेतना पैदा की । कवयित्री डॉ.अम्बेडकर को निर्बलों, दलितों, महिलाओं की आवाज स्वीकार करती है-

"अर्पित कर अपना जीवन

सबके लिए जिया है आपने

निर्बल को बल, गूंगों को हुंकार

दलितों में चेतना का संचार किया है आपने ।"१३

डॉ.अम्बेडकर ने जिस मार्ग का संचालन किया उसी मार्ग पर कवयित्री भी चलना चाहती है तथा समस्त दलित और स्त्री समाज को उन्हीं के पद-चिन्हों पर चलने को कहती है ।

डॉ.अम्बेडकर ने सर्वप्रथम अस्पृश्य समाज के समान अधिकार, नागरिकता के मानवीय अधिकार और जातिवादी पक्षपात भरे व्यवहार से उनकी रक्षा का प्रश्न उठाया । उन्होंने दलितों को सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक अधिकारों के लिए संघर्ष करना सिखाया । उन्होंने शोषितों को 'शिक्षित बनो, संगठित हो, संघर्ष करो' का नारा दिया । यह नारा तमाम शोषितों के लिए मुक्ति का महामंत्र है, चाहे वह स्त्री हो या दलित । जब दलित पूरी तरह से गुलाम और शोषित थे तब अम्बेडकर के इन शब्दों ने जैसे दलितों में जान ही डाल दी थी, **"दलितों तुम विद्रोह करो । तुम्हारे पास खोने के लिए गुलामी के सिवाय कुछ नहीं है, पर पाने के लिए आजादी है ।"१४**

मनुवादी ब्राह्मणवादी व्यवस्था की यह साजिश थी कि उसने दलितों और स्त्रियों को शिक्षा के अधिकार से दूर रखा । इसके पीछे का मुख्य कारण यह था कि अगर वे पढ़-लिख गये तो वे अपने अधिकारों की मांग करने लगेंगे । अम्बेडकर ने मनु के इस षड्यन्त्र को भांप लिया था जिसने ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को शिक्षा का अधिकार तो दिया लेकिन दलितों और स्त्रियों को इस अधिकार से वंचित रखा । अम्बेडकर ने शिक्षा के आन्दोलन के माध्यम से दलितों और स्त्रियों को उनके खोये हुए अधिकार वापस दिलाया । कवयित्री अम्बेडकर के बताए हुए रास्ते पर ही चलकर अपने अधिकारों को पा सकी है । वह कहती है कि आज दलित और स्त्री समाज शिक्षा के महत्व को जानकर अपने अधिकारों की मांग करने लगे हैं । यह उनकी चेतना है, यही दलित चेतना है जो अम्बेडकर ने उनके अन्दर जगायी थी ।

कवयित्री कहती है कि शिक्षा को जब तक व्यक्ति ग्रहण नहीं करेगा तब तक वह अपने मूलभूत अधिकारों से भी वंचित रहेगा । बाबासाहेब अम्बेडकर दलितों की स्थिति को बदलने में शिक्षा को बहुत महत्वपूर्ण औजार मानते थे । जिस तरह ज्ञान रूपी प्रकाश अज्ञानता रूपी अंधकार को दूर कर प्रगति का पथ प्रशस्त करता है, उसी तरह डॉ.अम्बेडकर के मूलमंत्र ने आज दलितों और स्त्रियों को तथा तमाम शोषित पीड़ित और वंचितों के अधिकारों के लिए उन्हें संघर्षबद्ध किया है । **'वाल्मीकि'** शीर्षक कविता में कवयित्री अंधी भक्ति, अंधश्रद्धा, अंधविश्वास और मन्दिर की गुलामी की अपेक्षा विद्यालय, चेतना और जागृति में समस्त उत्पीड़ित मानव की मुक्ति का सपना देखती है ।

"भक्ति से बड़ा ज्ञान है

अंधी भक्ति से बड़ी जागृति

मंदिर नहीं चाहिए

विद्यालयों के दरवाजे खटखटाइये ।"१५

यहाँ कवयित्री मनुवादी गुरू द्रोणाचार्य की भक्ति कर रहे एकलव्य को सचेत करते हुए कहती है कि यह जो अंधी भक्ति तुम कर रहे हो, शायद तुम्हें नहीं पता कि तुम छले जा रहे हो । यही कारण है कि द्रोणाचार्य ने गुरू दक्षिणा में तुमसे तुम्हारा अंगूठा मांगा ताकि तुम अच्छे धनुर्धर न बन सको । वह कहती है कि **"इतिहास गवाह है / गुरू**

द्रोणाचार्य ने / शिष्य एकलव्य के साथ छल किया ।"१६ इसीलिए वह एकलव्य जैसे अज्ञानी शिष्यों के अन्दर चेतना का दीप जलाना चाहती जिससे उन्हें शिक्षा का सही महत्व ज्ञात हो सके और जागरूक होकर वे अपने अधिकारों को प्राप्त कर सकें ।

कवयित्री दान, सहानुभूति और पुरातन मनुवादी तथा पुरूषवादी वर्चस्व से निकलकर शिक्षा का सवेरा देखना चाहती है । वह षड़यन्त्रकारी करूणा को त्यागकर चेतना की शेरनी की दहाड़ में अपना स्वाभिमान देखती है । **'आक्रोश'** शीर्षक कविता में वह पूरे आत्मसम्मान के साथ कहती है कि-

"नहीं चाहिए

दान की गाय

दया की बकरी

ये बहिष्कृत जन

घेर लाएं हैं संचेतना की सिंहनी ।"१७

डॉ.अम्बेडकर ने एक जगह कहा था कि -'शिक्षा शेरनी का दूध है । जो पियेगा, वह गुर्राए बिना नहीं रह सकता ।' वास्तव में शिक्षा वह साधन है जिससे व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है । शिक्षा से ही कोई अपने अधिकारों और गुलामी के अन्तर को जान सकता है । शिक्षा से मनुष्य में अपने अधिकारों की चेतना आती है, वह इसके लिए संघर्ष करता है । बिना शिक्षा के ज्ञान आना संभव नहीं और बिना ज्ञान के किसी क्रांतिकारी परिवर्तन की आशा नहीं की जा सकती । कवयित्री के अन्दर चेतना का प्रमुख कारण शिक्षा ही है । वह कहती है कि अशिक्षा के कारण ही ब्राह्मणवादी तत्वों ने हमेशा से दलितों को ठगा है । इतिहास हो या अपना वर्तमान, धर्म के नाम पर हमेशा से ब्राह्मण को ही गाय मिलती रही है, किन्तु उस शोषित, दलित के न्याय और धर्म के तराजू में कोई गाय नहीं आती । यह तुम्हारा (ब्राह्मणों का) षड्यन्त्र ही है । दलित जो सदियों से उपेक्षित है उन्हें कोई मानवीय दर्जा दिया नहीं गया । उल्टे उसके हक़ को भी उनसे छीन लिया गया । उसके हिस्से में क्या आया और उसे क्या मिला ? किसी ने जानने की कोशिश भी नहीं की । लेकिन ब्राह्मण फिर भी चाहता है कि दलित उनके पैरों तले रहें, उनका गुण गायें और उनका सेवक बना रहे । इतना सब करने के बाद उनके अन्दर अगर थोड़ी सी दया की भावना जागी तो वह बकरी दे देता

है । किन्तु कवयित्री ऐसे धर्म और वर्ण पर कुठाराघात करती है । वह कहती है कि हमें तुम्हारी सहानुभूति नहीं चाहिए । अब हम, चेतना रूपी सिंहनी ले आये हैं जो किसी के टुकड़ों पर न तो पलती है और न ही किसी की दासता स्वीकार करती है -

"यह आश्वासन की घास नहीं खाती

किसी का स्वामित्व नहीं मानती

फिर भी

यह हिंसक नहीं

अपने अस्तित्व की संरक्षक है

सहयोगिनी है ।"१८

कवयित्री का इशारा दलित साहित्य की तरफ है जो प्रतिशोध का साहित्य नहीं है । दलित साहित्य सहानुभूति का साहित्य नहीं बल्कि स्वानुभूति का साहित्य है । अपनी पीड़ा, यातना, दुःख, दर्द की अभिव्यक्ति दलित ही सच्चे और बेलाग ढंग से कर सकता है । दलित साहित्य आक्रोश का साहित्य हो सकता है किन्तु प्रतिशोध का साहित्य नहीं हो सकता । इसकी लड़ाई जातिवाद को नष्ट करके समतामूलक समाज की स्थापना करने के लिए है । दलित साहित्य संघर्ष, विरोध और विद्रोह का तीखा तेवर लेकर दीन-हीन समूहों की मुक्ति की तल्ख आवाज उठाता है । वह भविष्य के प्रति दृष्टि देने वाली चेतना का वाहक है । इसलिए वर्णवादी व्यवस्था की सनातनी सोच के विरोध में चेतना को विकसित करता है । दलित बहिष्कृत जन समाज में अपने अस्तित्व की लड़ाई के लिए प्रतिबद्ध हैं । यही दलित चेतना है ।

आज शिक्षा के माध्यम से दलित पढ़-लिखकर योग्य बन रहें हैं तथा योग्य लोगों की बराबरी कर रहें हैं । परन्तु वर्चस्वशाली ब्राह्मणवादी संस्कृति ने इनके ऊपर (दलितों पर) अयोग्यता का ऐसा ठप्पा लगा दिया है जो इनके जन्म के साथ ही इनके अस्तित्व से चिपक जाता है । डॉ.अम्बेडकर ने कहा था कि **'जाति एक ऐसा राक्षस है जो व्यक्ति के जन्म के साथ ही उसकी जाति निर्धारित कर देती है ।'** कवयित्री ऐसी मनुवादी और ब्राह्मणवादी व्यवस्था पर कटाक्ष करती है कि जो लोग वर्ग, जाति विषमता को उच्च मानते हैं तथा अपने पूर्वजों के बने-बनाए कठोर मानदण्डों को श्रेष्ठ कहकर गर्वान्वित

होते हैं, उन्हें शर्म आनी चाहिए । सवर्णों के इस संस्कार को कवयित्री नकारती है । अपनी कविता **'अब तो शर्म करो'** में वे ऐसे परम्परावादी और दकियानूसी लोगों को नकारती है जो पढ़े-लिखे दलित और उपेक्षित जनों को अब भी उपेक्षा और अपमान से भरी उसी पुरानी नज़र से देखते हैं :-

"वे करने लगे हैं बराबरी तुम्हारी

जीने लगे हैं सम्मान के साथ

तोड़ा है उच्च पदों का आरक्षण तुम्हारा

बैठने लगे हैं कुर्सियों पर साथ

जल उठता है हृदय तुम्हारा

अब तो शर्म करो !"१९

आज समाज के उत्पीड़ित, अपमानित, और शोषित दलित शिक्षा का अधिकार पाकर बड़े-बड़े पदों पर, जहाँ पहले सिर्फ सवर्ण स्थापित थे, उनकी बराबरी करके अपनी योग्यता का परचम लहरा रहे हैं लेकिन सवर्णों की नज़रों में उन्हें अपने प्रति हिकारत ही मिलती है । दलितों ने अपनी उपलब्धि अपने महापुरूषों के संघर्ष के फलस्वरूप ही पायी है । कवयित्री कबीर, बुद्ध, ज्योतिबा फुले, सावित्रीबाई फुले तथा बाबा भीमराव अम्बेडकर को महापुरूष मानती है तथा उनके महान योगदान को कभी नहीं भूलती है, जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन दलितों और उत्पीड़ित जनों के हित में लगाया । सुशीला टाकभौरे अपने आपको इनका कृतज्ञ मानती हैं । 'पूर्वजों का मुक्ति संग्राम' नामक कविता में वह इन महापुरूषों का स्तुति गायन करती हैं -

"गा रहे हम सप्त स्वर में

महापुरूषों की स्तुतियाँ

गुंजनों की स्वर लहरियाँ

मिटा रही हैं भ्रांतियाँ ।"२०

कवयित्री कहती है कि उनके महापुरूष इतिहास पुरूष हैं, जिन्होंने समय-समय पर मानवाधिकारों के लिए आवाज उठायी है तथा हजारों साल के उत्पीड़न, शोषण, सामाजिक विद्वेष, धार्मिक प्रतिबंधों, मानवीय अधिकारों से वंचित, दीनहीन दलितों की मूकता को वाणी प्रदान की है । वह उन्हें क्रांतिकारी कहती है-

गौतम, कबीर, ज्योतिबा, भीम

पूर्वजों का मुक्ति संग्राम

देता रहा आन्दोलन को गति

होते रहे विद्रोह और क्रांतियां हैं ।"२१

कवयित्री महात्मा ज्योतिबाफुले और सावित्रीबाई फुले के योगदान को भूल नहीं पाती है । वह अपने पति (पुरूष) से भी ज्योतिबा फुले जैसा बनने की अपेक्षा करती है और स्वयं सावित्री बनकर दूसरों के दुःख को दूर करने में अपने जीवन को अर्पित कर देना चाहती है । वस्तुतः फुले दम्पत्ति को दलितों और स्त्रियों के लिए वह एक प्रेरणा स्रोत की तरह देखती है -

"**बन जाओ जोतिराव**

तुम

मैं सावित्री सी बनकर

अर्पित कर दूंगी जीवन

पीड़ाओं के उन्मूलन में ।"२२

कवयित्री इन्हीं महापुरूषों के जीवन से प्रेरणा लेकर अपना जीवन दूसरों के कष्टों को दूर करने में न्यौछावर कर देना चाहती हैं तथा हाशिए पर जीवन जी रहे उत्पीड़ित, उपेक्षित दलित समाज को एकत्र कर वह सभी में चेतना का संचार भरना चाहती हैं ताकि सभी स्वाभिमान के साथ, अपने अस्तित्व को पहचान कर सम्मान की ज़िन्दगी जिएं । कवयित्री अपनी कविता **'ज्योति दूत बन जायेंगे'** में कहती है:-

"जाग उठे स्वाभिमान

हम खुद को पहचानें

आलोकित कर दें तन-मन

ज्योति दूत बन जायें ।"२३

कवयित्री यहाँ 'ज्योति दूत' शब्द का प्रयोग करती है । 'ज्योति दूत' से आशय है प्रकाश को फैलाने वाला, ज्ञान का संदेश देने वाला । वह ज्योतिबाफुले को 'ज्योति दूत' मानती है । जिस तरह से ज्योतिबाफुले ने समस्त उत्पीड़ित समाज में सबके लिए शिक्षा का मार्ग खोलकर ज्योति दूत का काम किया । उसी तरह वह स्वयं और दलित समाज को ज्योति दूत बनने के लिए कहती है जिससे समाज में अन्धकार दूर हो और ज्ञान की ज्योति फैले ।

सुशीला टाकभौरे की कविताएं सामाजिक परिप्रेक्ष्य में तो खरी उतरती ही हैं राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो वे भारतीय लोकतान्त्रिक व्यवस्था पर तीखा प्रहार करती नज़र आती हैं । लोकतंत्र एक राजनीतिक व्यवस्था के रूप में मनुष्य को समता, स्वतन्त्रता और बंधुत्व के अधिकार प्रदान करने का दावा करता है । लोकतंत्र को जनता का शासन जनता के लिए और जनता द्वारा माना जाता है । किन्तु कवयित्री अपनी कविताओं के माध्यम से पूछती है कि यह कौन सा लोकतंत्र है ? यह किस जनता की बात कर रहा है? यानी वह समाज कौन सा है जो लोकतंत्र का भोक्ता, कर्ता और निर्माता है? कहने का आशय यह है कि लोकतंत्र में राजनीतिक व्यवस्था में भागीदारी ही नहीं बल्कि समाज के उस वर्ग की पहचान भी आवश्यक है जो लोकतंत्र को नियंत्रित करने की ताकत रखता है । कहना न होगा कि भारतीय समाज में आजादी के बाद आए लोकतंत्र को नियंत्रित करने की ताकत, मुख्यतः सवर्णों और उच्च मध्यवर्ग के हाथों में रही है ।

स्वतंत्र भारत के लोकतंत्रीय व्यवस्था की यह जिम्मेदारी थी कि देश के सभी नागरिकों की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने के साथ-साथ यहाँ के दलित, पिछड़ी जातियों, एवं स्त्रियों के विकास के लिए सभी क्षेत्रों में विशेष अवसर प्रदान कर सामाजिक विषमता को दूर करें । लोकतंत्र के ६५ वर्षों में सदियों का संताप कब तक सहना और जूठन कब तक खाना पड़ेगा ? कवयित्री देखती है कि आज भी गावों में दलित मल-मूत्र

उठाने जैसे परंपरागत काम करके रोजी-रोटी कमा रहे हैं । अशिक्षा और अज्ञानता के कारण वे यह भी नहीं जानते कि उन्हें भारतीय संविधान ने कुछ अधिकार भी दिए हैं ।

"कैसी स्वतन्त्रता, कैसा लोकतंत्र ?

जानते नहीं संविधान में मिले अधिकार

आज भी

नरक सफाई के पुश्तैनी रोजगार में लगे

अभाव और अपमान में जी रहे हैं

ये लोग ।"२४

'ये लोग' शब्द के माध्यम से कवयित्री यहाँ अपने शोषित, भंगी दलित समाज को सम्बोधित कर रही है । गांवो या कस्बों में जाति व्यवस्था आज भी अपने घृणित रूपों में मौजूद है । आज भी गांवों में बेगारी, बंधुवा मजदूरी तथा मैला ढोने की प्रथा चली आ रही है । यह एक तरह से पुश्तैनी काम बन गया है । ऐसे समाज के विकास के लिए यथास्थितिवादी राजनीति का विरोध सुशीला टाकभौरे अपनी कविता के माध्यम से करती हैं । वह कहती हैं कि अतीत में जो रोजगार बाप ने किया वही वर्तमान में बेटा कर रहा है और भविष्य में वही रोजगार उसका बेटा करेगा । एक तरह से यह श्रृंखला का चक्र बन गया है । इस तरह दलितों को नरक की ज़िन्दगी जीने के लिए यह लोकतांत्रिक व्यवस्था मजबूर करती रहेगी-

"भविष्य के लिए

बाप का रोजगार बेटे के लिए

इस तरह आने वाली हर पीढ़ी को

देते रहेंगे अपमान की ज़िन्दगी ।"२५

लोकतांत्रिक व्यवस्था में दलितों की क्या स्थिति रही है इसको सुशीला टाकभौरे अपनी कविता 'हमारे हिस्से का सूरज' में न केवल उजागर करती हैं बल्कि द्विज वर्गों ने वर्णव्यवस्था के माध्यम से सामाजिक सत्ता से लेकर राजनीतिक सत्ता पर भी किस

तरह कब्जा करके जाति व्यवस्था के जरिए दलितों के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक शोषण को धार्मिक और नैतिकता का जामा पहना रखा है, इसके विद्रूप चेहरे को उघाड़कर इसके प्रति विद्रोही भावनाओं को भी अभिव्यक्ति दी है । देखा जाय तो यह कविता उनकी प्रतिनिधि कविता के रूप में हमारे समक्ष है ।

सुशीला टाकभौरे जी की कविताओं में गांधीवादी विचारधारा से मोहभंग होता हुआ दिखायी देता है । कवयित्री दलितों के प्रति गांधी जी के अछूत प्रेम, अछूत उद्धार आन्दोलन को दिखावा मानती है । वह इसे गुमराह करने वाला नाटक मानती है । वह लिखती है-

"सत्य अंहिसा का यज्ञ चलाने वाले

अछूतों का बलिदान लेते रहे

अवैध सन्तान जैसा अपमान भरा

'हरिजन' नाम देकर

उन्हें उद्धार के नाम पर, क्रांति के विरूद्ध

शान्ति और अंहिसा के साथ

शोषित, पीड़ित बने रहने का

उपदेश देते रहे ।"२६

'बलि के बकरे' शीर्षक कविता में कवयित्री कहती है कि गांधी जी 'हरिजन उद्धार' तो करना चाहते थे किन्तु वर्ण व्यवस्था को नष्ट करके नहीं । इसीलिए गांधी जी का हरिजन आन्दोलन सफल नहीं हो सका । गांधी जी सत्य और अंहिसा का प्रचार-प्रसार करके अछूतों का बलिदान लेने में कामयाब रहे । कवयित्री 'हरिजन' शब्द को गाली मानती है । आंध्र-प्रदेश, महाराष्ट्र, कर्नाटक में आज भी देवदासी प्रथा का प्रचलन है । वहां के मन्दिरों के पुजारियों से उत्पन्न अवैध सन्तानों को 'हरिजन' कहा जाता है । आज कोई भी दलित अपने को 'हरिजन' कहलाना पसन्द नहीं करेगा । यह नाम उसे एक गाली जैसा लगता है । न सिर्फ भारतीय बल्कि भारत के बाहर के विद्वान भी इस नितांत अन्यायपूर्ण और अनैतिक प्रथा के बारे में जानते रहे हैं । इस सन्दर्भ में रूसी

विद्वान ई.एस.यूरलोवा लिखते हैं -"**देवदासियां, जो नृत्यांगना के परिष्कृत नाम से जानी जाती हैं, कतिपय अछूत जाति के लोगों के द्वारा मंदिर में लाई जाती थीं और वे मंदिर के पुजारी की सम्पत्ति मानी जाती थीं । देवदासी की संतान को भगवान की संतान के नाम से पुकारा जाता था ।**"२७ इन्हीं औरतों की संताने 'हरिजन' कहलाती थीं क्योंकि इनकी शादी मंदिर के देवता से हुआ करती थी । गांधी जी ने दलितों को यही 'हरिजन' नाम दिया था । दलितों का प्रश्न यह है कि अगर अछूत हरि के जन हैं तो फिर सवर्ण क्यों नहीं? इसलिए इस तरह की सहानुभूति भरा नाम उसे आज भी अस्वीकार है जो उसे भरमाता है, लेकिन उनको शोषण से नहीं बचाता । यह दलितों की चेतना ही है जिसके कारण उन्होंने इस प्रश्न को अपने साहित्य और समाज के समक्ष रखा और इस भ्रामक नाम से दलित समाज को मुक्त होने का संदेश दिया ।

कवयित्री अन्याय को मौन होकर सहने की भावना का विरोध करते हुए, भ्रम की स्थिति से उबरने एवं अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होने का शंखनाद करती है -

"बता दिए आपने इनको,

अपने तीन बन्दर ।

शायद यही था आपका

दूरदर्शी अभियान

भोले-भाले लोगों को भरमाने के लिए,

देते रहे ऐसा ज्ञान-'सत्य मत देखो',

'सत्य मत कहो', 'सत्य मत सुनो ।"२८

कवयित्री के दृष्टिकोण से गांधी जी दलितों की स्थिति के परिवर्तन और सुधार के पक्ष में नहीं थे । जो दलित आज भी गांधीवादी विचारधारा से सहमत होते हुए दिखायी देते हैं उनकी स्थिति आज भी शोषित, पीड़ित और उपेक्षितों-सी बनी हुयी है । भंगी समाज में आज भी गांधी जी के 'हरिजन उद्धार' का बहुत प्रचार-प्रसार है । यह समाज गांधी जी के प्रति श्रद्धा और आस्था रखता है तथा इसका मानना है कि महात्मा गांधी अपना

पाखाना खुद साफ करते थे । उनकी शिक्षा से गांव के सेठ साहूकार भी घर के आसपास की गन्दगी या कचरा, मैला खुद उठाकर फेंक देते थे । जब इतने बड़े-बड़े लोग इस काम को करने में नहीं शरम करते हैं तो फिर हमें किस बात की शरम? हमारा तो जन्म ही इस जाति में हुआ है । दुःख हो चाहे तकलीफ, इसे तो करना ही चाहिए । कवयित्री इसे एक साजिश जैसा मानती है जो भंगी समाज को कभी विद्रोह करने की बात सोचने ही नहीं देता है । महात्मा गांधी के प्रपंचों में फंसे रहकर ये अछूत 'हरिजन' ही बने रहना चाहते हैं । जैसा गांधी जी ने इन्हें दिखाया और सुनाया, वैसा ही ये अभी भी करते आ रहे हैं । डॉ.अम्बेडकर की विचारधारा न तो इन तक पहुंच सकी, न ही ये उन विचारों को समझ सके, न ही उन पर कभी अमल कर सके ।

कवयित्री दलितों की गांधीवादी-सुधार प्रक्रिया को न केवल एक सिरे से नकारती है अपितु वर्तमान में भंगी समुदाय में दलितों और दलित महिलाओं की दुर्दशा का कारण भी मानती है । गांधीजी की कार्यशैली में इन समाजों में चेतना पैदा न करके इनके कर्मों का महिमा मंडन शामिल रहा है । उनकी इस नीति से उनके चाहे या अनचाहे में सामाजिक यथास्थितिवाद को समर्थन मिलता रहा । गांधी जी ने दलित भंगियों के घरों में पहुंचकर उनकी पीठ थपथपाकर उनके काम को महिमामंडित किया । किन्तु कवयित्री की पारखी नज़र और उनकी शिक्षा तथा अम्बेडकरी विचारधारा गांधी जी के इस कार्य से निकलने वाले उलटे और दलितों के लिए भयावह नतीजे समझने से चूकी नहीं-

"भंगी समुदाय की

बस्तियों में पहुंचकर

इन बलि के बकरों की

पीठ पर हाथ फेरा है

बापू आपने इन्हें खूब घेरा है

इनके गले पर छूरा फेरा है !"२९

कवयित्री भंगी समुदाय के लोगों के लिए 'बलि के बकरे' शब्द का प्रयोग करती है । बलि के बकरे को खिला-पिला कर, उन्हें अपने कब्जे में लेकर फिर उसकी बलि दी

जाती है उसी तरह गांधी जी ने भी अछूतों को अंहिसा और शान्ति का पाठ पढ़ाकर तथा 'हरिजन' नाम देकर, इन्हें अपनी ही पीड़ा और शोषण के विरूद्ध तीव्र प्रतिवाद का स्वर न उठाने का संदेश दिया ।

कवयित्री भंगी समुदाय के 'वाल्मीकिकरण' पर भी अपना रोष दिखलाती है । क्योंकि वाल्मीकि कभी भी भंगियों के प्रतिनिधि महापुरूष नहीं रहे । उन्होंने 'रामायण' ग्रंथ की रचना की थी जो ब्राह्मणों और उनकी संस्कृति का प्रमुख ग्रंथ है । कवयित्री कहती है कि वाल्मीकि नाम 'भंगी' समुदाय पर थोपा गया है ताकि वे हिन्दू धर्म के अभिन्न अंग बनकर यथास्थितिवादी बने रहें, सफाई और मैला ढोने का काम करते रहें जो वर्णाश्रम व्यवस्था के आधार पर उनके लिए निर्धारित काम है :-

"अन्त्यज अछूत

दलितों में दलित, चूहड़ा भंगी

गुरू के नाम पर

वाल्मीकि कहलाते हैं

'वाल्मीकि' के नाम पर वे मर मिटते हैं ।"३०

यहाँ कवयित्री इस बात से अत्यधिक हैरान है कि एक तरफ तो हिन्दुओं का सबसे पवित्र ग्रंथ 'रामायण' है, दूसरी तरफ उसके रचनाकार 'वाल्मीकि' हैं और जिनके तथाकथित वंशज सदियों से तथा आज भी सबसे दीन हीन स्थिति में हैं । वे सबसे निकृष्ट कर्म (मैला ढोना, झाड़ू पोछा) करते हैं । उसे समाज में न कोई सामाजिक न्याय मिला और न ही उसे कोई सम्मानित दर्जा प्राप्त है । यह विरोधाभास है और एक तरह से कहा जाय कि यह अजीब विंडबना ही है । वास्तव में वाल्मीकि शब्द भंगी समुदाय पर थोंप दिया गया है ताकि ये महिमामंडित होते रहे और लव-कुश के पालनकर्ता के रूप में अपनी अभिन्नता हिन्दू धर्म से दिखाते रहे । भंगी समुदाय गांधी के झांसे में फंसते रहें हैं, जिसमें उन्होंने यह इच्छा जाहिर की थी कि अगले जन्म में वह वाल्मीकि समाज में जन्म लेना चाहते हैं । आज दलित जातियों में जो वाल्मीकि उपनाम के लोग हैं वह भंगी समुदाय से संबंधित है । गांधी इसी समुदाय में जन्म लेने के इच्छुक थे । कंवल भारती ने दलित विमर्श की भूमिका में लिखा है- **"कहा जाता है कि गांधी जी ने अपना पुनर्जन्म एक भंगी के घर में होने की कामना भी की थी ।**

ऊपर से यह उनका भंगी प्रेम लगता है । पर इस भंगी प्रेम में भंगीपन से मुक्ति की इच्छा करने की भावना है । यदि एक भंगी का जीवन इतना ही उत्तम था, तो गांधी जी को उसी जीवन में भंगी का जीवन अपनाने से कौन रोक रहा था? अगले जन्म में भंगी होने की कामना का क्या यह अर्थ नहीं है कि वे जन्म-जन्मातंर तक भंगी समाज को जीवित रखना चाहते थे ।"३१ । इससे यह पता चलता है कि गांधी किस तरह से दलितों की दयनीय दशा तथा वर्णाश्रम व्यवस्था के घोर समर्थक थे । अपनी कविता **'वाल्मीकि'** में कवयित्री दलितों को अपनी दीन-हीन दशा के प्रति सचेत होने के लिए कहती है किन्तु अपनी स्थिति के प्रति निराशाजनक परिणाम के लिए उन्हें ही जिम्मेदार भी ठहराती है क्योंकि वे स्वयं इससे निजात पाने के लिए कोई सोच-विचार नहीं करते है-

"रामायण रचयिता

संस्कृत ज्ञाता, काव्यपंडित

ब्राह्मण वाल्मीकि के तथाकथित शिष्य

चूहड़ा भंगी

अपनी स्थिति पर

क्यों नहीं सोच पाते हैं ?"३२

'वाल्मीकि नामक कविता में कवयित्री कहती है कि जो वर्णव्यवस्था के समर्थक हैं तथा समाज में विषमतावादी व्यवस्था को बनाए रखना चाहते हैं वे आज भी दलितों को 'वाल्मीकि' के नाम से भरमाते हैं । वाल्मीकि 'रामायण' के रचयिता थे और उन्हें हिन्दू धर्म में सही नजरिये से देखा जाता है किन्तु उनके वंशज जो वाल्मीकि जाति के हैं वे आज भी नरक भरी ज़िन्दगी गुजार रहे हैं । वह कहती है कि छल, बल के साथ मनुवादी नेता दलितों को अपनी जागृति का संदेश सुनने नहीं देते । उन्होंने हिन्दू धर्म के कर्म का भुलावा देकर दलित और शूद्रों को एक साजिश के तहत परम्परागत व्यवसाय करने के लिए बाध्य कर रखा है-

"छल बल के साथ

जागृति का संदेश सुनने नहीं देते

जाति की पहचान परम्परागत रोजगार

छोड़ने नहीं देते

धर्म-कर्म के भुलावे में भरमाते हैं ।"३३

****

"बरसों से

उसके पैरों में वही है

दासता की बेड़ियां

नरक सफाई के औजार

सिर पर भी वही है

त्याज्य अपवित्रता का बोझ

कोई परिवर्तन नहीं ।"३४

'यह कौन सा समाज है' शीर्षक कविता में कवयित्री प्रश्न करती है कि समाज में वर्षों से दलितों के पैरों में गुलामी की जंजीरें बांध दी गई है और व्यवस्था ने उनके हाथों में नरक सफाई के औजार झाड़ू थमा दिए हैं तथा सिर पर मैला ढोने की प्रथा अभी भी बरकरार है । कवयित्री इस व्यवस्था को बनाने और चलाने वाले ब्राह्मणवादी नेतृत्व कर्ताओं से सवाल करती है कि तुम जिस भारतीय समाज, सभ्यता और संस्कृति के गुणों की बखान करते नहीं थकते क्या तुम्हारा समाज यही है? यहाँ क्यों बरसों से सवर्णों के हाथों में कलम और शिक्षा के लिए पुस्तकें हैं तथा हम अछूत, दलितों के पैरों में दासता की बेड़ियां ? क्यों हमारे हाथों में कलम, किताब की जगह झाड़ू और नरक सफाई के औजार थमा दिए गए ?

अपनी स्थिति को देखकर कवयित्री का तथाकथित भगवान से भी विश्वास उठ गया । वह 'भगवान' को शोषण का जरिया मानती है । कवयित्री मूर्ति-पूजकों पर व्यंग्य करती है । धर्म के उन ढकोसलों को वह धता बताती है जो उसकी इस स्थिति को बरकरार

रखने के लिए है । स्त्रियों और दलितों की वर्तमान दुर्दशा के लिए उत्तरदायी भगवान के प्रति 'यातना से विचलित मन' शीर्षक कविता में वह कहती है कि-

"यातना से विचलित

व्यथा से बौराया मन

देने लगता है गालियां

ईश्वर को

फिर

शोषक, अत्याचारी

इन्सान क्या चीज है

उसे देना है

ईंट का जवाब

पत्थर से ।"३५

कवयित्री अपने बचपन को याद करती है जब उसकी नानी का मन नरक तथा यातनापूर्ण ज़िन्दगी जीते-जीते विचलित हो जाता था तब वह ईश्वर को कोसती थी । कवयित्री कहती है कि व्यवस्था ने भंगी समाज कि लिए जो नरक पूर्ण काम तय कर रखे हैं उनको करते-करते वे थक चुके हैं । अब वे चेतना से भर कर पूछ रहे हैं कि सिर्फ वही ये काम क्यों करें ? जिसने यह परम्परा बनाई है कभी वे भी तो ये काम करे ? उन्हें भी तो पता चले कि भंगी समाज में जीना और नरक सफाई के यह काम करना कैसा लगता है ? इसी संदर्भ को अपनी आत्मकथा **'शिकंजे का दर्द'** में अपनी नानी के माध्यम से कवयित्री अभिव्यक्त करती है-"नानी ने बदला लेने की यह नीति अपनाई थी । कठोर परिश्रम से थककर, अपने कष्टों से घबराकर किलप-किलप कर गालियां देती हुई गुस्से से कहती-"तेरी ठठरी बंध जाये, तेरो बुरो हो जाये भगवान । अरे तेरो सिंहासन डोल जाये....तेको सब भूल जायें ...।" नानी अपना आक्रोश इसी तरह निकालते हुए बड़बड़ाती थी, "हे भगवान, तेरे मुंह में कीड़े पड़ जायें । कोई तोहे पानी देने वालो न रहे । तू तड़प-तड़प कर मरे । कोई तेरी मौत मट्टी पर न रोये- **"नानी के लिए यह**

भगवान शायद दुश्मन इन्सान ही होगा तभी तो शोषित पीड़ित वह इस तरह उसे खत्म करना चाहती थी, वरना सर्वशक्तिमान को कौन ऐसा बोल सकता है?"३६ कवयित्री की नानी, किस प्रकार ईश्वर के अस्तित्व पर सवाल खड़ा करती है, यह तो देखा ही जा सकता है किन्तु कवयित्री की नानी का ईश्वरवाद के प्रति यह आक्रोश केवल उनका नहीं बल्कि समूचे दलित-समाज का आक्रोश है, जो अपमान और हेय दृष्टि का दंश सहते-सहते ईश्वर को भी चुनौती देता हुआ, उसके प्रति विद्रोह कर उठता है । यहाँ दलितों का ईश्वरवाद से विमोह तो देखा ही जा सकता है तथा साथ ही साथ वे शोषक और अत्याचारियों को ईंट का जवाब पत्थर से देने की भावना भी दिखाई देती है ।

दलित साहित्य के लेखन में हुई प्रगति एवं सामाजिक-सुधारों के परिणामतः परम्पराएं भग्न हो रही हैं । पुरानी कहानियों के अमानवीय अंत अब मानवीय मोड़ लेने लगे हैं । सुखद भविष्य बन रहा है । पर परिवर्तन की यह धारा चंद लोगों तक ही पहुंच पाई है । चेतना की इन रश्मियों का सर्वत्र विस्तार करना होगा । अतीत में शिक्षा एवं लेखन पर वर्ग विशेष के आधिपत्य के कारण प्राचीन ग्रंथों में स्त्री और दलित वर्ग के हित की अवहेलना की गई तथा उन्हें हाशिए पर डाल दिया गया था । सागर मंथन के वैचारिक-अमृत पर एकाधिकार कर लिया गया था । आज वह एकाधिकार टूट रहा है । अब अन्तर्मन के सागर के पुनर्मंथन का उद्देश्य दलित-चेतना ने निर्धारित कर लिया है-

"सागर मंथन फिर से होगा

अब वे करेंगे अमृतपान

और तुम्हें करना होगा

विषपान ।"३७

यहाँ कवयित्री की सशक्त दलित चेतना देखी जा सकती है । वह कहती है अगर शोषण का यह चक्र ऐसे ही चलता रहेगा तो वह दिन दूर भी नहीं है जब दलित और उत्पीड़ित वर्ग संगठित होकर अपने शोषण का बदला तुमसे (ब्राह्मणवादियों से) अवश्य लेंगे और तुम्हारी सत्ता को धराशायी कर देंगे । परिवर्तन हमेशा से होता आया है यही एक अटल नियम है । समाज और साहित्य में भी परिवर्तन अवश्य होगा । वह ब्राह्मणवादियों (देवताओं) को नकाबपोश मानती है जिन्होंने मोहिनी का रूप धारण कर असुरों को भ्रम में डालकर विषपान कराया और स्वयं अमृत का पान करते रहे हैं । वह उन्हें फटकारते

हुए कहती है कि सागर-मंथन का जो अमृत था उसका पान तुम असुरों के आंखों में धूल झोंक कर स्वयं करते रहे और हमें उससे बेदखल कर दिया । किन्तु अब वह दिन आ गया है, जब हम अमृतपान करेंगे और तुम विषपान । मतलब सामाजिक परिवर्तन की बात कवयित्री यहाँ करती है । वह कहती है कि व्यवस्था हमेशा से एक जैसी नहीं रहती, उसमें आमूलचूल परिवर्तन होते रहते हैं और यही कारण है कि दलित अपने संघर्ष के द्वारा इस व्यवस्था में सामाजिक परिवर्तन के लिए उठ खड़े हुए हैं । उनकी लड़ाई सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक न्याय को लेकर है ।

प्राचीनकाल से आज तक शोषण करने वाले तत्वों से, जब उपेक्षित जन अपने ऊपर हुए अन्यायों की पड़ताल करते हुए प्रश्न पूछते हैं, तो उनके सवाल जवाबहीन रह जाते हैं । उनकी यह निरूत्तरता शोषित वर्ग में एक नए आक्रोश को जन्म देती है । इसी आक्रोश को कवयित्री ने 'अनुत्तरित प्रश्न' कविता में अभिव्यक्त किया है -

तुम नहीं जानते

वे सब अनुत्तरित प्रश्न

कितनी पीड़ा देते हैं!

अब वे देने लगे हैं

आक्रोश को जन्म ।"३८

आदिवासियों की पीड़ा को भी सुशीला टाकभौरे बड़ी बारीकी से अपनी कविता में स्वर प्रदान करती हैं । अपनी कविता 'बिरसा मुण्डा'-उलगुलान' में कवयित्री ने आदिवासियों के संघर्ष को एक मुखर आवाज दी है । वह आदिवासियों में चेतना का संचार करने वाले बिरसा मुण्डा के 'उलगुलान' आन्दोलन की महिमा का गान करती है । अंग्रेजों के अन्याय के खिलाफ आदिवासियों को इकट्ठा करके तीर कमान के सहारे युद्ध करने वाला 'भगवान' बिरसा है । आदिवासियों का धर्म जंगल, जल, जमीन के अधिकार तथा अपनी आजादी के लिए किया गया संघर्ष उनकी प्रतिरोध चेतना का प्रमाण है । वह लिखती है-

"शोषित आदिवासियों का नेता

लेकर तीर कमान

बदला लेने निकला था

बिरसा मुण्डा महान ।"३९

बिरसा मुण्डा का साहस और संघर्ष आज आदिवासियों को उनके शोषण के विरूद्ध विद्रोह करने की चेतना प्रदान करता है । बिरसा मुंडा 19वीं सदी के एक प्रमुख आदिवासी जननायक हैं | इनके नेतृत्व में मुंडा आदिवासियों ने 19वीं सदी के आखिरी वर्षों में मुंडाओं के महान आंदोलन उलगुलान को अंजाम दिया | इसीलिए बिरसा मुंडा को आदिवासी समाज के लोग भगवान के रूप में पूजते हैं । झारखण्ड की धरती पर बिरसा मुंडा को भगवान का दर्जा अगर दिया जाता है तो उसके पीछे एक बहुत बड़ी वजह भी है । मात्र 25 साल की उम्र में उन्होंने लोगों को एकत्रित कर एक ऐसे आंदोलन का संचालन किया जिसने देश की स्वतंत्रता में अहम योगदान दिया । अपने पच्चीस साल के छोटे जीवन में ही उन्होंने जो क्रांति पैदा की वह अतुलनीय है । आदिवासी समाज में एकता लाकर उन्होंने देश में धर्मांतरण को रोका और दमन के खिलाफ आवाज उठाई । यही कारण है कि आदिवासी समाज के लोग अपने अधिकारों के लिए एकजुट होकर संघर्ष कर रहे हैं ।

आज जिस जातिवाद और ब्राह्मणवाद का खात्मा करने के लिए दलितों ने क्रान्ति का बिगुल बजाया है, उसके लिए कवयित्री एक सार्थक और सफल मार्ग की कामना करती है ।

कवयित्री के अनुसार दलित चेतना के माध्यम से ही दलित अपने उत्थान की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं । अनंतकाल से हुए दमन की प्रतिक्रिया स्वरूप, शब्दों की चिन्गारियों का निकलना स्वाभाविक है । पर कवयित्री इस ओर भी सचेत करती है कि कहीं यह चिन्गारी सतत हिन्सात्मक संघर्ष का माध्यम न बन जाये । क्योंकि कवयित्री वैचारिक स्तर पर संघर्ष चाहती है इसीलिए वे प्रतिरोध की हिमायती है लेकिन प्रतिशोध की नहीं । सदियों से वर्चस्वशाली वर्ग ने निरीह जनता को 'दलित' की स्थिति में पहुंचाने के लिए जिस सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक दाव-पेंच का खेल खेला यदि दमित वर्ग उन्हीं के नक्शे कदम पर चलकर प्रतिशोध का रास्ता अपनाएगा तो शोषक वर्ग और मानवाधिकार के लिए लड़ने वाले वर्गों में क्या अन्तर रह जायेगा ? इसीलिए

प्रतिरोध बनाम प्रतिशोध के द्वन्द्व को समाप्त करने हेतु कवयित्री ने चेतना के प्रकाश का धर्म प्रकाशित करना माना है जलना-जलाना नहीं ।

"तुम्हें सचेत रहना है

प्रकाशित होना अभ्युदय है

लेकिन

जलना-जलाना

जीवन का संदेश नहीं हो सकता ।"४०

'आग का धर्म' शीर्षक कविता में कवयित्री कहती है कि जीवन का वास्तविक संदेश तो समरसता का स्थापन है । पर समरसता तभी स्थापित हो सकती है, जब वर्णव्यवस्था एवं जातिवाद के हिमायती तत्व पराभूत हों । उनकी मानसिकता और वैचारिकता बदले-

सामाजिक प्रतिमान बदल रहे हैं । आज दलित अपने प्रतिमान स्वयं तय कर रहे हैं, दलित अपना साहित्य खुद लिख रहे हैं । ग्रन्थों के पुनर्लेखन और पुनर्पाठ की आवश्यकता है ताकि वर्चस्व के कृत्रिम विचारों को समाप्त किया जा सके -

"टूट जायेगा भ्रम तुम्हारा

ज्ञान के अधिकारी होने का अभियान

खंडित होगी प्रतिमा तुम्हारी

देख नये युग के बदलते प्रतिमान ।"४१

कवयित्री आक्रोश के बावजूद, एकत्व की भावना एवं मानवीयता की अस्मिता को कायम रखना चाहती है । दलित विमर्श का उद्देश्य टकराव नहीं अपितु अपनत्व एवं भाईचारे का विकास करना है । टकराव परंपरावादी अन्याय का समर्थन करने वाले विचारों से है, वर्ग विशेष से नहीं । इसीलिए वह कहती है-

"अपनत्व का हाथ बढ़ाकर,

आपसी दूरियाँ मिटाइये

समाज में भाईचारा

एकता बनाइये ।"४२

दलित चेतना का प्रवाह कुंद न हो, उसका क्रांतिकारी तेवर भ्रष्ट न हो और समतामूलक समाज का लक्ष्य बना रहे, यह दलित लेखन की प्राथमिकता और दायित्व है । कवयित्री इसी लक्ष्य को लेकर चलती है । वह अपने प्रेरणास्रोत बाबासाहेब अम्बेडकर के बताए हुए मार्ग समता, स्वतन्त्रता और बंधुता पर चलना चाहती है ।

हजारों सालों से दलितों का इतिहास गुलामी का रहा है । अम्बेडकर ने ही दलितों को उनकी गुलामी का एहसास कराया था । आज अम्बेडकर का सपना सच हो रहा है क्योंकि दलित आज अपने अधिकारों के लिए लड़ना सीख गए हैं । वे जागरूक हो रहे हैं तथा अपना साहित्य स्वयं रच रहे हैं । अपनी दिशा वही तय कर रहे हैं । **'जागरण के बाद'** शीर्षक कविता में कवयित्री लिखती है-

"मानस-सागर में

बढ़ती रहेंगी

अपनी दिशा की ओर

धधकती विचारधाराएं

उनकी उष्णता

कम नहीं कर सकता कोई

जागरण के बाद ।"४३

सुशीला टाकभौरे की कविता का स्वर न्याय के लिए गुहार का नहीं संविधान द्वारा प्रदत्त अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए संघर्ष का स्वर है । इनकी कविताएं वास्तव में न केवल सदियों से सुषुप्त पड़े दलित समाज की चेतना को जागृत करने में अलार्म का काम करती हैं बल्कि अन्याय और शोषण के खिलाफ उठ खड़े होने का आवाहन भी करती हैं, उसे शक्ति, स्फुर्ति और विश्वास से भरती हैं । **'ज्योति दूत बन जायेंगे'** शीर्षक कविता में कवयित्री दलितों में आत्मसम्मान और चेतना जगाते हुए कहती है-

"नहीं रहेगी अगली पीढ़ी

अब इन हालातों में

रोक सकेगा हमें न कोई

हम हैं हिम्मत वाले ।

ओ साथी अब आंख खोलकर

देख सामने राह

बुझ न पाये हम सबकी

आशाओं की मशाल ।"४४

कवयित्री दलितों में चेतना का भाव भरकर उसे क्रान्ति के लिए जागरूक करना चाहती है जिससे दलित साहित्य का जो उद्देश्य है वो दिग्भ्रमित न हो । वह उद्देश्य है- शोषणमुक्त, जातिवाद से मुक्त एक ऐसा समाज जिसमें सभी स्वतन्त्र हों, सभी सम्मान के साथ रहें ।

कवयित्री के संघर्ष के आयाम अनेक प्रकार के हैं । एक ओर वह इन उपेक्षितों-शोषितों में आत्मविश्वास भरकर उसे अपने हजारों सालों की गुलामी की अन्धेरी गुफा से बाहर निकालना चाहती है तो दूसरी तरफ 'सवर्ण वर्चस्व' वाली मानसिकता का विरोध करती हुई अम्बेडकर के समता, स्वातंत्र्य और बंधुत्व के मानवतावादी मूल्यों पर आधारित विचारधारा को मानवता के विकास के लिए सर्वोपरि मानती है । **'मानवता का नारा'** शीर्षक कविता में वह लिखती है कि आज राष्ट्र का हित इसी में है कि सभी परस्पर समान रूप से भाईचारे के साथ रहें ।

कवयित्री हिन्दू धर्म के 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की अपेक्षा बुद्ध के 'अप्प दीपो भव' को श्रेष्ठ मानती है ।

"तमसो मा ज्योतिर्गमय

की बात से

बढ़कर है

स्वयं दीपक बनो

स्वयं प्रकाशित हो

दीप से दीप जलाकर

पूरे समाज को

प्रकाशित कर दो ।"४५

दलित चेतना के दार्शनिक और वैचारिक आधार का एक प्रमुख स्रोत गौतम बुद्ध रहे हैं । जिन्होंने ही पहली बार वर्णव्यवस्था के औचित्य को चुनौती दी थी । बौद्ध धर्म के महत्व पर प्रकाश डालते हुए दलित लेखक जयप्रकाश कर्दम अपने लेख **'दलित साहित्य में धर्म का द्वन्द'** में लिखते हैं- **"बौद्ध धर्म अनित्य और अनात्मवादी है । यह ईश्वर, आत्मा, परमात्मा, भाग्य परलोक को नहीं मानता तथा किसी भी बात को अपनी बुद्धि और विवेक पर तौलकर ही स्वीकार करने का आह्वान करता है । यह धर्म व्यक्ति को अपने ऊपर विश्वास करने तथा 'अप्प दीपो भव' की प्रेरणा देता है' । और सबसे बढ़कर यह धर्म मनुष्य की मनुष्य के रूप में पहचान और प्रतिष्ठा पर बल देता है ।"४६** गौतम बुद्ध ने अपना दीपक स्वयं बनने के लिए कहा था । यह धर्म किसी और पर निर्भर होने से अच्छा स्वयं आत्मनिर्भर बनने का संदेश देता है । डॉ.अम्बेडकर ने भी गौतम बुद्ध से प्रेरणा ग्रहण की थी और बाद में चलकर उनके सिद्धान्तों को अपनाते हुए बौद्ध धर्म में दीक्षा ग्रहण की थी । डॉ.अम्बेडकर और बौद्ध धर्म के आलोक में दलित समाज आज अपनी मानवीय गरिमा, स्वतन्त्रता और अधिकारों की लड़ाई लड़ रहा है ।

डॉ.सुशीला टाकभौरे की हाल ही में प्रकाशित आत्मकथा **'शिकंजे का दर्द'** में उन्होंने दलित स्त्री के तिहरे शोषण की वास्तविकता को हमारे सामने रखा है । दलित स्त्री के जाति, लिंग व गरीबी से जुड़े बहुस्तरीय शोषण की अभिव्यक्ति ने उस सामाजिक वास्तविकता से परिचित कराया जिसके कारण स्त्री होने, गरीब होने और दलित होने के कारण दलित स्त्री त्रासद अनुभवों से गुजरने को अभिशप्त है । जातिगत शोषण की सच्चाई को जानते हुए भी बेखबर होना जाति की संरचना के सत्य को नकारना है । वो लोग कैसे जाति की भयावहता का आकलन लगा सकते हैं, जिनका अवमानना, तिरस्कार, वंचना, उपहास, अवहेलना, यौन शोषण और अत्याचार से दूर-दूर तक वास्ता न रहा हो ? यहाँ महात्मा ज्योतिबा फुले के जातिदग्ध अनुभवों का उल्लेख प्रासंगिक

होगा-"राख ही जाने है जलने का दर्द" । कवयित्री का जीवन जाति, वर्ग तथा लिंग भेद के तिहरे शोषण से अभिशप्त रहा है । डॉ.अम्बेडकर के जीवन-मूल्यों पर चलने वाली कवयित्री अपने जीवन में उच्च शिक्षा ग्रहण करती है । इसी शिक्षा से आई चेतना और आत्मविश्वास के आधार पर वे ब्राहमणवादी पितृसत्ता के शोषण के दंश के विरूद्ध विद्रोह करने का साहस करती हैं । इसी साहस, दृढ़-संकल्प और दलित चेतना के चित्र उनकी समस्त कविताओं में प्रतिबिम्बित होते हैं ।

दलित चिंतक ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित चेतना के विशिष्ट पहलुओं का उल्लेख करते हुए लिखते हैं- **"दलित चेतना गालबजाऊ, सहानुभूति, संवेदना और सम्मान से आगे कुछ पाना चाहती है । उसके सामने हजारों वर्ष की 'अमानवीय व्यवस्था' अपनी मजबूत किलेबन्दी बनाकर खड़ी है जो कदम-कदम पर उसे छल रही है । अस्मिता की इस तलाश में मात्र साहित्य की बारीकियों, तथाकथित कलात्मक सौन्दर्यबोध, जिसे ब्राहमणवादी सोच ने विकसित किया है, उसे बहला नहीं रहे हैं । उसे अधिकार, अवसर और सत्ता में भागीदारी चाहिए । साहित्य के निष्कर्षों, आदर्शों को खंगालने पुनर्मूल्यांकन करने की आवश्यकता दलित-रचनाकार तीव्रता से महसूस करता है । यथास्थिति को विकल्पहीन नियति बना देने वाले साहित्य शास्त्र को दलित चेतना अस्वीकार करती है । उसे नकारती है ।"४७** इस प्रकार दलित चेतना दलितों के मानवीय और सामाजिक अधिकार को पाने की एक सार्थक पहल है जो दलितों में इससे पहले नहीं थी ।

कवयित्री ने सामाजिक विषमता का दंश बहुत ही गहरे स्तर पर झेला है । फलतः दलित पीड़ा से रूबरू कराती उनकी रचनाएं प्रबल आक्रोश के रूप में फूट पड़ती हैं । उनकी कविताएं जहाँ दबी-कुचली, सुषुप्त मानवीय संवेदना को झकझोरती हैं, वहीं वह दलित समस्याओं का समाधान भी तलाशती हैं । वस्तुतः उनकी स्फुर्तिदायक रचनाएं सदियों से संतप्त जड़ावस्था में जनजीवन को संवारने के लिए प्रेरणादायक हैं ।

सुशीला टाकभौरे की कविताओं में जो दलित चेतना है, वह एक तरह से उनका हथियार है । जिसके माध्यम से वो जातिवादी तत्वों को लड़ते हुए एक समतामूलक समाज के निर्माण का स्वप्न देखती हैं ।

सुशीला टाकभौरे की कविताओं में दलित चेतना की अभिव्यक्ति समय की सच्चाइयों से सीधे आँख मिलाकर विषमताओं पर अपनी शक्ति से वार करती है । वह **'यह तुम भी**

जानो' कविता संग्रह में संकलित 'प्रकाश पुंज' शीर्षक कविता के माध्यम से दलित समाज की चेतना को जगाते हुए कहती हैं- **"ओ विकलांग धरती पुत्र / आँख की नमी / और बहता पसीना / प्यास नहीं 'बुझाता' / अपना भविष्य / अपनी आँखें ही देख सकती हैं ।"४८**

कवयित्री ने अपनी कविताओं में सदियों की पीड़ा एवं भोगे हुए यथार्थ का बहुत ही मार्मिक चित्रण किया है । क्रांति का आवाहन करने वाली उनकी रचनाएं सामाजिक परिवर्तन चाहती है, शिक्षा प्रसार पर बल देती है । कलम को हथियार बनाने का संकल्प करनेवाली कवयित्री नया इतिहास, नई संस्कृति का निर्माण करना चाहती है । वह कहती है कि सामाजिक क्रांति तब होगी जब दलितों, आदिमों, नारियों में आत्मभाव जागृत होगा, उनके अन्दर सम्मान से जीने की चेतना आयेगी और शिक्षा का प्रसार होगा । सामाजिक क्रांति में नारी की भूमिका को महत्वपूर्ण मानती है । उनकी रचनाएं परिवर्तनवादी है । उसमें पुरूष प्रधान संस्कृति, वर्णव्यवस्था, नारी के प्रति संकुचित दृष्टिकोण, सवर्णों की विकृत मनोवृत्ति, पर करारा व्यंग्य किया गया है । उनका विचार है सामाजिक समस्या का समाधान सामाजिक क्रांति है, इसके लिए दलित और नारी में जागृति लाना अनिवार्य है । इस दृष्टि से सुशीला टाकभौरे का काव्य संग्रह **'हमारे हिस्से का सूरज'** और **'यह तुम भी जानो'** महत्वपूर्ण हैं जो कि दलित चेतना को सशक्त अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं । उनकी कविताओं में दलित चेतना व्यक्ति को आत्मसंघर्ष के लिए प्रेरित करती हैं ।

सुशीला टाकभौरे की कविताओं का शिल्प पक्ष बहुत ही बेजोड़ है । उन्होंने बिम्बों और प्रतीकों के मारक चित्र खींचे हैं । अपनी कविताओं में पौराणिक बिम्बों और मिथकों का नये अर्थों में बहुत ही सार्थक प्रयोग किया है जैसे-शम्बूक, एकलव्य, वाल्मीकि, सागर-मंथन, विक्रम बैताल, आदि मिथक कविताओं में जान डाल देते हैं तथा आज इनकी प्रासंगिकता किन अर्थों में है इस पर भी कवयित्री प्रकाश डालती है । ज्वारभाटा, ज्वालामुखी, आंतों की ऐठन, कलेजे को कचोटती, अन्तस की आग, हुंकार, अनहद नाद आदि शब्द कवयित्री के मन में चल रहे उथल-पुथल को दर्शाते हैं । क्रांति के लिए मशाल और संगठन की आवश्यकता पड़ती है जो एक सशक्त क्रांति का द्योतक है इन सभी बिम्बों को अपनी कविता में सही जगह दी है । कविताओं में न किसी प्रकार का अनावश्यक प्रसंग और न किसी तरह का लाग-लपेट है । आक्रोश, नकार, प्रतिरोध आदि शब्द दलित चेतना को अभिव्यक्त करते हैं । अपनी बातों को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत

करना और पाठक वर्ग के अन्दर चेतना जगाना ताकि वे सड़ी-गली व्यवस्था को बदल सके- यह उनकी कविताओं की प्रमुख विशेषता है ।

हिन्दी साहित्य में दलित विमर्श एक ऐसा साहित्यिक विमर्श है जो अम्बेडकरवादी विचारधारा से अनुप्राणित होकर न केवल दलित हित चिन्तन की बात करता है, अपितु मानवीयता का उद्घोष करते हुए, जाति विहीन समाज की स्थापना की दिशा में विशिष्ट संबल प्रदान करता है । दलित-विमर्श में जहाँ अभाव, पीड़ाओं एवं आघातों का संघर्ष है, वहीं नवचेतना के रूप में उल्लास के कण भी हैं । दलित विमर्श; अतीत की पारदर्शी, संवेदनहीन परतों को तो उजागर करता ही है, साथ ही उत्थान के नाम पर किए जा रहे, भ्रमजाल से बचने की भी सलाह देता है ।

सुशीला टाकभौरे अपनी कविता संग्रह **'हमारे हिस्से का सूरज'** की भूमिका में दलित चेतना के विभिन्न पक्षों को उजागर करते हुए लिखती हैं **-"इसमें शोषण अन्याय के विरूद्ध विद्रोह और दुश्मनों को ललकारने की चेतना है । इसमें कहीं यातना के स्वर हैं, कहीं चेतना के स्वर हैं । कहीं शोषकों को धिक्कार है तो कहीं अन्याय के विरूद्ध अत्याचारियों से बदला लेने की हुंकार है ।"**४९ इनकी कविताएं आक्रोश एवं विकास के स्वर को समेटे हुए हैं । आक्रोश परंपरा के नाम पर विषमता को समर्थन देने वालों के प्रति व्याप्त है । इनकी कविताएं विषमता से भरे हुए समाज की असलियत ठीक उसी तरह उजागर करती हैं जैसे एक्सरे द्वारा शरीर के आंतरिक अंगों के टूटन को देखा जा सकता है । वास्तव में इन्होंने कविताओं के माध्यम से सामाजिक टूटन एवं अमानवीयता के अतीत में झांकने का प्रयास किया है ।

इस प्रकार समग्रता में सुशीला टाकभौरे की कविताओं में दलित चेतना का वह अन्तरंग स्पर्श मिलता है जो सदियों से गुलामी का जीवन जी रहे तथा हाशिए पर फेंक दिए गये उत्पीड़ित, शोषित दलितों और स्त्रियों के खोये हुए अधिकारों को फिर से वापस लाने और उसके लिए क्रांति की परिचायक है । अपनी कविताओं के सन्दर्भ में लिखती हैं-**"ये टीस, पीड़ा, बेचैनी और तिलमिलाहट से पूर्ण व्यंग्य बाण भी हो सकते हैं- इनका उद्देश्य ही है जड़ मानसिकता को सचेत करना ।"**५० इस प्रकार दलित चेतना की ऐसी अभिव्यक्ति जो वास्तव में सुषुप्त पड़े मस्तिष्क में चेतना के बीज को रोपित कर दे । उन्हीं के शब्दों में -

"तुम ही तोड़ोगे

परम्परा से बंधा दृश्य

असमर्थ, निरीह, परमुखापेक्षी

अस्पृश्य भाव ।

वर्तमान के कानों को

समय की पुकार सुनने दो

अतीत की वाणी को

मुखर होने दो

भविष्य की आंखों में

सम्मान का सपना सजने दो ।

कर्मठ हाथों को उठने दो

आकाश तक

तीन डग नाप लो

सम्पूर्ण विश्व

विधाता एक मुट्ठी चावल

तुम्हीं से मांगेगा

क्योंकि

तुममें निष्ठा है

शक्ति है

युक्ति है

तुम सर्व शक्तिमान हो ।"५१

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. सुशीला टाकभौरे -तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह), शरद प्रकाशन, नागपुर, प्रथम संस्करण-१९९५ ।
2. रमणिका गुप्ता -शिष्ट और जन-साहित्य के कटघरे में (लेख),पृष्ठ संख्या-११६, अप्रैल-जून-१९९८, पश्यन्ती ।
3. ओमप्रकाश वाल्मीकि -दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरी आवृत्ति-२००९, पृष्ठ संख्या-३२-३३ ।
4. श्यौराज सिंह बेचैन, रजतरानी मीनू (संपादक), -दलित दखल, श्री साहित्यिक संस्थान, गाज़ियाबाद, संस्करण २००१, पृष्ठ संख्या-१७६ ।
5. सुशीला टाकभौरे -हमारे हिस्से का सूरज, पृष्ठ संख्या-१० ।
6. सुशीला टाकभौरे - हमारे हिस्से का सूरज, पृष्ठ संख्या-१० ।
7. दलित अस्मिता, अंक-३, अप्रैल-जून २०११, पृष्ठ संख्या-२९ ।
8. सुशीला टाकभौरे -हमारे हिस्से का सूरज, पृष्ठ संख्या-१० ।
9. सुशीला टाकभौरे -यातना के स्वर, पृष्ठ संख्या-११ ।
10. सुशीला टाकभौरे -यातना के स्वर, पृष्ठ संख्या-११ ।
11. सुशीला टाकभौरे -यातना के स्वर, पृष्ठ संख्या-११ ।
12. सुशीला टाकभौरे -जयभीम, पृष्ठ संख्या-९४ ।
13. सुशीला टाकभौरे -जयभीम, पृष्ठ संख्या-९४ ।
14. कंवल भारती -दलित विमर्श की भूमिका, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, पुनर्मुद्रण-२००७, पृष्ठ संख्या-६२ ।
15. सुशीला टाकभौरे -वाल्मीकि, पृष्ठ संख्या-२१ ।
16. सुशीला टाकभौरे -वाल्मीकि, पृष्ठ संख्या-२० ।
17. सुशीला टाकभौरे -आक्रोश, पृष्ठ संख्या-५६ ।
18. सुशीला टाकभौरे -आक्रोश, पृष्ठ संख्या-५६ ।

19.सुशीला टाकभौरे -अब तो शर्म करो, पृष्ठ संख्या-३७ ।

20.सुशीला टाकभौरे -पूर्वजों का मुक्ति संग्राम, पृष्ठ संख्या-५४ ।

21.सुशीला टाकभौरे -पूर्वजों का मुक्ति संग्राम, पृष्ठ संख्या-५४ ।

22.सुशीला टाकभौरे -लौटा दो मेरा विश्वास, तुमने उसे कब पहचाना (कविता संग्रह) शरद प्रकाशन, नागपुर पृष्ठ संख्या-६२ ।

23.सुशीला टाकभौरे -ज्योति दूत बन जायेंगे, पृष्ठ संख्या-८७ ।

24.सुशीला टाकभौरे -हमारे हिस्से का सूरज, पृष्ठ संख्या-१० ।

25.सुशीला टाकभौरे -हमारे हिस्से का सूरज, पृष्ठ संख्या-१० ।

26.सुशीला टाकभौरे -बलि के बकरे, पृष्ठ संख्या-१६ ।

27.शीतला सहाय, अतुल कृष्ण विश्वास -(लेख) देवदासी, सती-प्रथा और कन्या-हत्या (शैतानी लीलाओं का रक्त-रंजित इतिहास), गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, प्रथम संस्करण, ई.एस.यूरलोवा-शेड्यूल्ड कास्ट इन इंडिया, पृष्ठ संख्या-३१ ।

28.सुशीला टाकभौरे -बलि के बकरे, पृष्ठ संख्या-१६ ।

29.सुशीला टाकभौरे -बलि के बकरे, पृष्ठ संख्या-१६ ।

30.सुशीला टाकभौरे -वाल्मीकि, पृष्ठ संख्या-२० ।

31.कंवल भारती- दलित विमर्श की भूमिका, इतिहासबोध प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पृष्ठ संख्या-६५ ।

32.सुशीला टाकभौरे -वाल्मीकि, पृष्ठ संख्या-२१ ।

33.सुशीला टाकभौरे -वाल्मीकि, पृष्ठ संख्या-२० ।

34.सुशीला टाकभौरे -यह कौन सा समाज है, पृष्ठ संख्या-२२ ।

35.सुशीला टाकभौरे -यातना से विचलित मन, पृष्ठ संख्या-३८ ।

36.सुशीला टाकभौरे -शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२०११ पृष्ठ संख्या-२७ ।

37.सुशीला टाकभौरे -व्यंग्य आघात और विषपान, पृष्ठ संख्या-३३ ।

38.सुशीला टाकभौरे -अनुत्तरित प्रश्न, पृष्ठ संख्या-५८ ।

39.सुशीला टाकभौरे -बिरसा मुण्डा:उलगुलान, पृष्ठ संख्या-८३ ।

40.सुशीला टाकभौरे -आग का धर्म, पृष्ठ संख्या-७५ ।

41.सुशीला टाकभौरे -बदलते प्रतिमान, पृष्ठ संख्या-८१ ।

42.सुशीला टाकभौरे -मानवता का नारा, पृष्ठ संख्या-८८ ।

43.सुशीला टाकभौरे- जागरण के बाद, पृष्ठ संख्या-९०

44.सुशीला टाकभौरे -ज्योति दूत बन जायेंगे', पृष्ठ संख्या-८६ ।
45.सुशीला टाकभौरे -आग का धर्म, पृष्ठ संख्या-७५ ।
46.दलित अस्मिता, अंक-३, अप्रैल-जून-२०११ ।
47.ओमप्रकाश वाल्मीकि - दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, तीसरी आवृत्ति-२००९ पृष्ठ संख्या-३२-३३ ।
48.सुशीला टाकभौरे -प्रकाश पुंज, पृष्ठ संख्या-७४ ।
49.सुशीला टाकभौरे -'हमारे हिस्से का सूरज' (काव्य संग्रह), भूमिका, शरद प्रकाशन, नागपुर ।
50.सुशीला टाकभौरे- यह तुम भी जानो (कविता संग्रह), भूमिका, शरद प्रकाशन, नागपुर ।
51.सुशीला टाकभौरे -स्वयं को पहचानो, पृष्ठ संख्या-४४ ।

उपसंहार

मनुष्य का ज्ञान इस समाज, संस्कृति, धर्म, इतिहास, राजनीति, कला और साहित्य, लोक के विभिन्न क्षेत्रों में फैला हुआ है । चिंतकों ने मनुष्य और मनुष्य की उपलब्धियों को बेहतर बनाने के अनगिनत प्रयास किए हैं । इन प्रयासों में मुख्य भूमिका होती है चेतना की । यह चेतना समष्टिनिष्ठ भी होती है और व्यक्तिनिष्ठ भी । सुशीला टाकभौरे की चेतना समष्टिनिष्ठ है । उनकी यह चेतना समाज में स्त्रियों और दलितों तथा सभी उत्पीड़ित वर्ग के लिए है जो उनके अधिकार दिलाने तथा सम्मान से जीवन जीने के प्रति एक भाव जगाती है ।

सुशीला टाकभौरे अपनी आत्मकथा **शिकंजे का दर्द** में लिखती हैं- **"मेरे लेखन का आधार जातिगत अपमान की कचोट और पीड़ा-उत्पीड़न की वेदना है । मेरा लेखन दलित विमर्श के साथ नारी शोषण की स्थिति को बताने और उससे मुक्ति पाने का आह्वान है । जब तक अन्याय को अन्याय नहीं समझा, तब तक मैंने उसे जीवन का भाग मानकर सहज रूप से सहन करते हुए जीया था । मगर अब मैं इस अन्याय को और अन्याय के कारणों को समझ रही हूँ । अपने जीवन की उन बातों को बता रही हूँ, जिन्हें मैंने जातिभेद के अपमान के साथ जीया है और नारी होने के कारण हिंसा-शोषण के रूप में सहा है । लोग इन्हें जानें-समझें और समाज से इन्हें मिटाने का प्रयत्न करें, यही मेरे लेखन का उद्देश्य है ।"** (पृष्ठ संख्या-२७१) ।

सुशीला टाकभौरे जी की यह पीड़ा और दर्द उनकी समस्त कविताओं में भी दिखाई देता है । अपने अपमान और अन्यायपूर्ण जीवन से उन्होंने पीछा न छुड़ाकर उससे लड़ने का प्रण लिया । उनके अन्दर साहस और आत्म-विश्वास तथा दृढ़-संकल्प इस बात का प्रतीक है कि वह अपमान भरा जीवन जीते हुए तथा उससे संघर्ष करते हुए, आज एक प्रसिद्ध दलित लेखिका के रूप में हमारे सामने हैं । अम्बेडकरवादी विचारधारा से चेतना ग्रहण करते हुए अपनी रचनाओं के माध्यम से उन्होंने समाज में परिवर्तन और न्याय

के लिए पहल की है । रचना के माध्यम से वह समस्त स्त्री और दलित समाज में चेतना जगाना चाहती हैं ताकि वे प्राचीन पारंपरिक रूढ़ियों में क़ैद, शोषित और अपमानपूर्ण ज़िन्दगी से निजात पा सकें ।

सुशीला टाकभौरे जी को पढ़ते वक़्त मुझे एक बात अन्दर से बहुत खटकी खासतौर से उनकी आत्मकथा **शिकंजे का दर्द** पढ़ते हुए कि इतनी सशक्त, ओजस्वी, आत्मनिर्भर और दृढ़-संकल्पी महिला होने के बावजूद उन्होंने अत्याचार क्यों सहा ? अपने ससुराल में पति, ननद और सास सबके हाथों क्यों प्रताड़ित होती रहीं ? उन्होंने अपने ऊपर होते रहे अत्याचार और उत्पीड़न के विरूद्ध आवाज क्यों नहीं उठायी ? अपने पति के दुर्व्याहारों से मुक्ति पाने के लिए अलग राह और अलग जीवन जीने के बारे में क्यों नहीं सोचा किन्तु स्त्री-पुरूष सम्बन्धों के बीच तनाव पनपने लगे तो उसका एकमात्र रास्ता तलाक ले लेना नहीं होता । सुशीला जी ने भी बहुत धैर्य से काम लिया अपने काम के प्रति दृढ़-निश्चयी और आत्मविश्वासी तथा सौहार्दपूर्ण व्यवहार से सुशीला जी ने अपने पति के सामने अपने होने का और अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का अहसास दिलाया । स्त्री विमर्श के इस दौर में जहाँ आज बहुत सी स्त्रियाँ रेडिकल हो रही हैं, पति-पत्नी के थोड़े से झगड़े में खटपट होने पर तलाक का चयन कर लेती हैं, वहीं सुशीला टाकभौरे जी के जीवन को देखें तो पता चलता है कि ताउम्र प्रताड़ना सहने के बाद भी उन्होंने हिम्मत नहीं हारी और परिवार में सामंजस्य बनाए रखा । उनका विचार भी यही है कि समाज में स्त्री-पुरूष को कंधे से कंधा मिलाकर चलना होगा तभी समाज में समानता आ पायेगी । उनकी इसी प्रवृत्ति से मैं बहुत प्रभावित हुयी और मैंने यह सोचा कि इस कर्मठ और जुझारू महिला पर काम अवश्य करना चाहिए ।

समकालीन हिन्दी साहित्य के बहस-मुबाहिसे में स्त्री विमर्श और दलित विमर्श केन्द्रीय विमर्श के तौर पर शुमार हो चुका है । कुछ लोगों का यहाँ तक कहना है कि फिलहाल यह साहित्य का 'विजेता विमर्श' है । यही वजह है कि इस विमर्श के विकास और व्याप्ति को देखकर नाक-भौंह सिकोड़ने वाले लोग भी कुछ किंतु-परंतु भले ही लगाएं, पर सीधे तौर पर नकारने की बात नहीं कर पाते हैं । साहित्य की परिधि में बढ़ते विमर्श देखकर जो लोग घबराते हैं असल में वे अपनी अधूरी समझ का ही परिचय देते हैं । स्त्री विमर्श और दलित विमर्श जितना साहित्य का मसला है उतना ही समाज का भी । इसलिए मैंने अपने लघु शोध प्रबंध में स्त्री और दलित प्रश्नों से संबंधित कुछ

इतिहासपरक, राजनीतिपरक और समाजशास्त्रीय अध्ययनों और स्रोतों का प्रयोग किया है ।

इधर हिन्दी साहित्य में 'अस्मिता' एवं 'अस्तित्व' संबंधी बहसें तेज़ हुई हैं । इस कारण स्त्रियों, दलितों तथा आदिवासियों की अस्मिता एवं अस्तित्व के सवाल भी एक बड़े सवालों के रूप में उभरकर हमारे सामने आएं हैं । आज ये वर्ग अपने लेखन के माध्यम से इतिहास और साहित्य में अपनी उपस्थिति दर्ज करा रहें हैं । कई हजार वर्षों से हाशिए पर पड़ा यह समाज इतिहास से तो बेदखल था ही साहित्य से भी बेदखल था । अपने अधिकारों के लिए जिस प्रकार इनमें चेतना आयी है उसी तरह ये अपनी अस्मिता के लिए भी संघर्ष कर रहें हैं । संविधान में भारत का नागरिक होने के नाते यहाँ के लोगों को मूल अधिकार का प्रावधान है । किन्तु सदियों से यहाँ के संसाधनों पर कुछ वर्चस्वशाली लोगों का ही आधिपत्य रहा है । उनके इस षड्यन्त्र को उपेक्षित और उत्पीड़ित वर्ग अब समझने लगा है, जिसके कारण वह समाज और साहित्य में अपनी पहचान और अधिकारों की मांग करने लगा है । साहित्य में उसका आना और अपना साहित्य तथा इतिहास स्वयं लिखना इसी बात को रेखांकित करता है । इस वर्ग के साहित्य का स्वर विरोध, प्रतिरोध और संघर्ष का है, उसमें सामाजिक न्याय और सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा है ।

स्त्री विमर्श के उदय की पृष्ठभूमि से लेकर उसके मुख्य मुद्दों- देह मुक्ति, यौन शुचिता और यौन मुक्ति तथा उसके उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए मैंने अपने लघु शोध प्रबंध के दूसरे अध्याय में चर्चा की है । आज का स्त्री लेखन अपने स्वतन्त्र अस्तित्व और अस्मिता की मांग करता है । विश्वनाथ प्रसाद तिवारी लिखते हैं कि **"स्त्री स्वाधीनता का अर्थ उसको सभी वे अवसर उपलब्ध कराना है, जो पुरूष को प्राप्त हैं और स्त्री होने के कारण वह जिनसे वंचित की जाती है । उसे समान मताधिकार, समान नागरिक अधिकार, शिक्षा और रोजगार के समान अवसर तथा संपत्ति पर समान अधिकार प्राप्त होना चाहिए और सबसे बुनियादी बात यह है कि उसे निर्णय का अधिकार प्राप्त होना चाहिए ।" (विश्वनाथ प्रसाद तिवारी:आलोचना के हाशिए पर, नेशनल पबलिशिंग हाउस, पृष्ठ संख्या-१३९)** | उसका उद्देश्य पुरूष समाज से प्रतिशोध लेना और अपनी अलग दुनिया बसाना नहीं है बल्कि समाज में दोनों की आवश्यकता और अनिवार्यता पर बल देते हुए समानता की बात करता है ।

आत्मविश्लेषण, अस्मिता की तलाश, जीवन मूल्यों की खोज, मानवीय सरोकारों की पड़ताल को लेकर आज दलित विमर्श अपना लेखन कर रहा है । सदियों से दबा, कुचला, शोषित, अपमानित और उत्पीड़ित दलित आज साहित्य में अपने कटु जीवन के यथार्थ को लेकर अपनी उपस्थिति दर्ज करा चुका है । उससे छीने गए उसके मानवीय अधिकार और इसके साथ ही सामाजिक, राजनीतिक अधिकार उसे चाहिए जिसके लिए वह संघर्ष कर रहा है । कंवल भारती दलित विमर्श की भूमिका में लिखते हैं कि **"दलित विमर्श के केन्द्र में वे सारे सवाल हैं, जिनका संबंध भेदभाव से है, यह भेदभाव चाहे जाति के आधार पर हो, रंग के आधार पर हो, नस्ल के आधार पर हो, लिंग के आधार पर हो या फिर धर्म के ही आधार पर ही क्यों न हो ।" (कंवल भारती:दलित विमर्श की भूमिका, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, २००७, पृष्ठ संख्या-१७)** । इन सभी सवालों को केन्द्र में रखकर आज दलित साहित्य अपना लेखन कर रहा है ।

दलितों और स्त्रियों का शोषण तो हमेशा से होता आ रहा है । किन्तु जब एक दलित स्त्री के शोषण की बात आती है तो यह शोषण तिहरे स्तर का हो जाता है । शोषण का यह स्तर 'वर्ग, लिंग और जाति के नाम पर होता है ।' दलित स्त्री लेखन मनु द्वारा लादी गयी पुरूष वर्चस्व की सत्ता के विरोध में स्वर उठाता है । दलित महिला लेखन ने जहाँ ब्राह्मणवादी परंपरा पर चोट की है, वहीं अपने ही समाज के पितृसत्तात्मक चरित्र पर भी आघात करते हुए लिखा है । इसलिए उसके लेखन में दुहरी तिलमिलाहट पाई जाती है । स्त्री लेखन और दलित लेखन ने जहाँ अपने मुद्दों को साहित्य में खड़ा किया वहीं इन विमर्शों ने दलित स्त्री विमर्श के प्रश्न को हाशिए में रख दिया था । इसीलिए दलित स्त्री विमर्श अपने प्रश्नों और अपने मुद्दों को लेकर अलग से लेखन कर रहा है । इस प्रकार मैंने अपने दूसरे अध्याय में स्त्री, दलित स्त्री और दलित विमर्श पर बात की है और उन निष्कर्षों को भी प्रस्तुत किया है जो मुझे इन्हें पढ़कर लगा ।

अपने तीसरे अध्याय में मैंने सुशीला टाकभौरे की कविताओं की स्त्री चेतना पर चर्चा की है । खासतौर से उनके कविता संग्रह 'तुमने उसे कब पहचाना' में संग्रहित कविताएं, जो स्त्री चेतना पर आधारित हैं, उनको लिया है । उनकी प्रमुख कविताओं **'तुमने उसे कब पहचाना', 'युग चेतना', 'स्त्री', 'लौटा दो मेरा विश्वास', 'आवाहन', 'विद्रोहिणी' 'आज की खुद्दार औरत', 'औरत नहीं है मजबूर',** 'आदि में कवयित्री की स्त्री चेतना पूरे सशक्त रूप में दिखायी देती है । मैंने इस अध्याय में 'तुमने उसे कब पहचाना' और 'हमारे हिस्से' का सूरज की कुछ कविताओं को केन्द्र में रखकर उसमें स्त्री चेतना के स्वर को ढूंढने

का प्रयास किया है । सुशीला टाकभौरे की स्त्री चेतना पारम्परिक रूढ़ियों को तोड़ने के लिए आग्रहशील है । वह पूरे प्रतिरोध, आक्रोश और नकार के साथ उस व्यवस्था को ध्वस्त कर देना चाहती हैं जिसने स्त्री को पराधीन, पंगु और निर्जीव बनाए रखा । उनकी स्त्री चेतना स्त्री समाज के लिए एक ऐसे मार्ग का संचालन करती है जो उसे अपने खोये हुए अधिकारों को वापस पाने के लिए उसमें जागरूकता, शक्ति का संचार करे तथा स्त्री के अंदर स्वतन्त्रता की आकांक्षा जगाती है । उनकी समस्त कविताएं स्त्री चेतना के ऐसे पहलुओं को सामने लाती हैं जो अभी तक साहित्य में किंचित मात्र ही उपलब्ध है । उनकी स्त्री चेतना भोग्या नारी की दुर्दशा, उसके भावों में धर्मशास्त्रों द्वारा डाली गई बेड़ियाँ, सामाजिक रूढ़ियाँ आदि से सम्बन्धित प्रश्नों को उठाकर पुरूष समाज को खुली चुनौती देती हैं । स्त्री चेतना का ओजस्वी और क्रांतिकारी रूप सुशीला टाकभौरे में दिखाई देता है ।

सुशीला टाकभौरे की कविताओं में दलित चेतना के संदर्भ में मैंने उनके दो काव्य संग्रहों 'हमारे हिस्से का सूरज' और 'ये तुम भी जानो' की मुख्य-मुख्य कविताओं को लिया है तथा उसमें दलित चेतना के स्वरों की पड़ताल की है । दलितों के शोषण, समाज में उनकी वर्तमान स्थिति, ब्राह्मणवादी वर्णव्यवस्था में उनकी सामाजिक स्थिति और उनके अधिकार से सम्बन्धित प्रश्नों के आलोक में मुख्यधारात्मक समाज के बरअक्स दलित समाज के अस्मितामूलक मांगों से साक्षात्कार किया । दलित कविता केवल कविता नहीं है, वरन् सदियों पुरानी विषमतामूलक सनातनी परंपराओं को दफन करने की एक विचारधारात्मक कार्यवाई है । दलित काव्य-संवेदना की चेतना की गर्भ से निकला मानव अधिकारों का यह संघर्ष उस अमानुषिक व्यवस्था के विरूद्ध किया जा रहा है जो मानव गरिमा को गिराकर परजीवी संस्कृति का निर्माता है । यह एक ऐसा हथियार है जिसे पाकर दलित वर्ग स्वाधीनता की उम्मीद करता है । इसके लिए वह 'बेड़ियों को / काटने का राज / और अंधेरा / चीरने की शक्ति' की खोज करता है । यह शक्ति उसे अंबेडकर के जीवन-दर्शन से प्राप्त होती है । सुशीला टाकभौरे की दलित चेतना इन्हीं विचारों से लैस है । उनकी कविताएं शोषण करने वाली उन सभी संस्थाओं एवं शक्तियों को बेनकाब करता है जो सदियों से सत्ता और ज्ञान पर अपना कब्ज़ा जमाए हुए हैं । उनकी दलित चेतना पूरे समाज में सामाजिक न्याय के लिए पहल करती है और अम्बेडकर के जीवन मूल्यों से प्रेरणा ग्रहण करते हुए, उस पर चलने का संदेश देती है ।

सुशीला टाकभौरे प्रसिद्ध हिन्दी भाषी दलित कवयित्री हैं । उनकी कविताओं पर शोध कार्य करते हुए मैंने यह पाया कि उनकी कविताएं बहुमुखी हैं । उनमें स्त्री चेतना के साथ दलित चेतना के स्वर भी सुनायी पड़ते हैं । प्रो.वीर भारत तलवार अपने लेख 'दलित साहित्य की अवधारणा' में उनकी कविताओं के सन्दर्भ में कहते हैं कि **"उनका कविता-संग्रह 'तुमने उसे कब पहचाना?' दलित चेतना से कहीं ज्यादा उनकी स्त्री चेतना को अभिव्यक्त करता है । इस संग्रह में वो एक दलित हैसियत से नहीं, एक स्त्री की हैसियत से खुद को पहचानती हैं और न पहचानने के लिए जिन पुरूषों को वे कटघरे में खड़ा करती हैं, उनमें दलित पुरूष भी है, बल्कि वे ही हैं । उनकी यह स्त्री चेतना किसी भी गैर-दलित स्त्री की चेतना से मेल खाती है । सुशीला टाकभौरे ने 'स्त्री चेतना की जैसी तीखी और मार्मिक कविताएं लिखी हैं, वैसी हिन्दी की सवर्ण कवयित्रियों ने भी नहीं लिखी हैं ।" (डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन: चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य, नवलेखन प्रकाशन, बिहार, २०००-२००१, पृष्ठ संख्या-८०-८१) ।** स्त्री और दलित चेतना दोनों की सशक्त अभिव्यक्ति इनकी कविताओं में मिलती है ।

सुशीला टाकभौरे की कविताएं बहुत दूर तक हमारी संवेदना को झकझोरती है । एक खास चीज उनकी कविताओं को पढ़ते हुए मुझे लगा कि उनकी सभी कविताओं का कहीं न कहीं उनके जीवन से गहरा जुड़ाव रहा है और यह उनकी आत्मकथा में भी दिखाई देता है । आत्मकथा और उनकी कविताओं को अगर एक साथ पढ़ा जाय तो उनकी आत्मकथा के एक-एक प्रसंग पर ये कविताएं सटीक बैठेंगी । प्रामाणिक अनुभवों की संवेदनात्मक झलक उनकी रचनाओं में दिखाई देती है । उनकी स्त्री और दलित चेतना से यह बात सामने निकल कर आती है कि अगर भविष्य में एक मानवतावादी भारतीय समाज का निर्माण करना है तो उसके लिए जाति उन्मूलन, गरीबी उन्मूलन और पितृसत्ता उन्मूलन की दिशा में एक साथ संगठित प्रयास करने होंगे । सुशीला टाकभौरे की यह चेतना स्त्री और दलित समाज के लिए एक प्रस्थान बिन्दु हो सकती है ।

संदर्भ ग्रंथ सूची

(क) आधार ग्रंथ:

1. सुशीला टाकभौरे :स्वाति बूँद और खारे मोती (काव्य संग्रह)
   शरद प्रकाशन, नागपुर, प्रथम संस्करण, १९९३ ।
2. सुशीला टाकभौरे :यह तुम भी जानो (काव्य संग्रह)
   शरद प्रकाशन, नागपुर, प्रथम संस्करण, १९९४ ।
3. सुशीला टाकभौरे :तुमने उसे कब पहचाना (काव्य संग्रह)
   शरद प्रकाशन, नागपुर, प्रथम संस्करण, १९९५ ।
4. सुशीला टाकभौरे :हमारे हिस्से का सूरज (काव्य संग्रह)
   शरद प्रकाशन, नागपुर, प्रथम संस्करण, २००५ ।

(ख) सहायक ग्रंथ:

1) अजय कुमार : दलित पैन्थर आन्दोलन, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली,२००६ ।
2) अभय कुमार दुबे (सं) : आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, २००७ ।
3) अरविन्द जैन, लीलाधर मंडलोई (सं) : स्त्री मुक्ति का सपना, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, २००४ ।
4) एल.बी.पटेल : मनुवाद और उसकी अवधारणा, सिद्धार्थ बुक दिल्ली,२००९ ।

5) एस.एस.गौतम : बुद्ध, कबीर, अम्बेडकर, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, २०१० ।
6) ओमप्रकाश वाल्मीकि :दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, २००९ ।
7) कंवल भारती : डॉ.अम्बेडकर:एक पुनर्मूल्यांकन, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर, १९९७ ।
8) कंवल भारती : दलित विमर्श की भूमिका, इतिहास बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, २००७।
9) कंवल भारती : दलित साहित्य की अवधारणा, बोधिसत्व प्रकाशन, रामपुर, २००६ ।
10) कात्यायनी : दुर्ग द्वार पर दस्तक, परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, २००४ ।
11) किंगसेन पटेल : नारीवादी आलोचना की उलझनें (स्त्री-पुरूष सम्बन्धों का सन्दर्भ), किशन कालजयी (सं), संवेद-४५, वर्ष-३, अंक-१०, अक्टूबर-२०११ ।
12) कुसुम मेघवाल : हिन्दी उपन्यास और दलित नारी, संघी प्रकाशन, जयपुर, १९९१ ।
13) जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह (सं) : स्त्री अस्मिता, साहित्य और विचारधारा, आनन्द प्रकाशन, कोलकाता, २००४ ।
14) जगदीश्वर चतुर्वेदी : स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स, नई दिल्ली, २००२ ।
15) जॉन स्टुअर्ट मिल : द सब्जेक्शन ऑफ विमैन,
स्त्री और पराधीनता
प्रकृति, शक्ति और भूमिका से जुड़े प्रश्न, हिन्दी अनुवाद एवं प्रस्तुति- युगांक धीर, संवाद प्रकाशन, मेरठ, २००८ ।
16) डॉ.अम्बेडकर : जातिभेद का उच्छेद, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, २०१० ।
17) डॉ.अम्बेडकर : धर्मान्तरण क्यों?, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, २०११ ।

18) डॉ.मंजू सुमन (संकलन) ज्ञानेन्द्र रावत (सं) : दलित नारी एक विमर्श, सम्यक् प्रकाशन, नई दिल्ली २००९ ।
19) डॉ.मंजू सुमन (संकलन) ज्ञानेन्द्र रावत (सं) : दलित महिलाएं, सम्यक प्रकाशन, नई दिल्ली, २००४ ।
20) डॉ.श्यौराज सिंह बेचैन, डॉ.रजतरानी मीनू (सं) : दलित दखल, श्री साहित्यिक संस्थान, लोनी गाजियाबाद, संस्करण:२००१ ।
21) प्रभा खेतान : छिन्नमस्ता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९७ ।
22) महादेवी वर्मा : श्रृंखला की कड़ियां, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९५, पृष्ठ संख्या-६६ ।
23) मैनेजर पाण्डेय : मैं भी मुँह में ज़बान रखता हूँ, यश पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, २००६ ।
24) दिनेश राम : दलित मुक्ति का प्रश्न और दलित साहित्य, श्री साहित्यिक संस्थान, गाजियाबाद, २००२ ।
25) राजकिशोर (सं) : (आज के प्रश्न), स्त्री के लिए जगह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, भाग-७, २००६ ।
26) राजकिशोर (सं) : (आज के प्रश्न), स्त्री, परंपरा और आधुनिकता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, भाग-१४,२००४ ।
27) राजकिशोर (सं) : (आज के प्रश्न), हरिजन से दलित, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, भाग-६, २००४ ।
28) राजकिशोर : स्त्रीत्व का उत्सव, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली ।
29) राधा कुमार : स्त्री संघर्ष का इतिहास,१८००-१९९०, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, २००९ ।
30) रेखा कास्त्वार : स्त्री चिन्तन की चुनौतियां, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, २००६ ।
31) रोहिणी अग्रवाल : स्त्री लेखन:स्वप्न और संकल्प, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, २०११ ।
32) विमल थोरात : दलित साहित्य का स्त्रीवादी स्वर, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रिब्यूटर्स, दिल्ली, २००८ ।

33) विमल थोरात : मराठी दलित कविता और साठोत्तरी हिन्दी कविता में सामाजिक और राजनीतिक चेतना, हिन्दी बुक सेन्टर, नई दिल्ली, १९९६ ।
34) शरणकुमार लिम्बाले : दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, २०१० ।
35) शशिकला त्रिपाठी : उत्तर शती के उपन्यासों में स्त्री, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, २००० ।
36) शीतला सहाय, अतुल कृष्ण विश्वास : शैतानी लीलाओं का रक्त-रंजित इतिहास, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली, प्रथम संस्करण ।
37) सीमोन द बोउवार : स्त्री उपेक्षिता (अनु.) प्रभा खेतान, हिन्द पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, २००२ ।
38) सुमन राजे : हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, २००६ ।
39) सुशीला टाकभौरे : शिकंजे का दर्द, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, २०११ ।
40) हिन्दी साहित्य का आधा इतिहास : सुमन राजे, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, २००६।
41) हेमलता महिश्वर : स्त्री लेखन और समय के सरोकार, नेहा प्रकाशन, दिल्ली, २००६ ।

(ग) <u>पत्र-पत्रिकाएं:</u>

1. आउटलुक : नीलाभ मिश्र (सं) नव वर्ष विशेषांक, महिला लेखन पर केन्द्रित, जनवरी २०११ ।
2. आजकल : सीमा ओझा (सं), वर्ष-६२, अंक-५, सितम्बर २००६ ।
3. आजकल : " , वर्ष-६५, अंक-१०, फरवरी २०१० ।
4. आजकल : " , वर्ष-६६, अंक-११, मार्च २०११ ।

5. आजकल : " , वर्ष-६७, अंक-११, मार्च २०१२ ।
6. अपेक्षा : तेज सिंह (सं) , वर्ष-१०, अंक-३५, अप्रैल-जून, २०११ ।
7. कथादेश : हरिनारायण (सं) , वर्ष-३२, अंक-१, मार्च-२०१२ ।
8. कथादेश : वही, किसान जीवन का यथार्थ : एक फोकस (विशेषांक), वर्ष-३२, अंक-३, मई-२०१२ ।
9. दलित अस्मिता : विमल थोरात (सं), वर्ष-१, अंक-१,अक्टूबर-दिसम्बर २०१० ।
10. दलित अस्मिता : वही, वर्ष-१, अंक-२, जनवरी-मार्च२०११।
11. दलित अस्मिता : वही, वर्ष-१, अंक-३, अप्रैल-जून २०११।
12. दलित अस्मिता : वही, वर्ष-१,अंक-४-५, जुलाई-दिसम्बर २०११ ।
13. पाखी : प्रेम भारद्वाज (सं), राजेन्द्र यादव पर केन्द्रित (विशेषांक), वर्ष-३, अंक-१२, सितम्बर २०११ ।
14. बयान : मोहनदास नैमिशराय (सं), फिल्मों की चकाचौंध में दलित जीवन, वर्ष-५, अंक-५२, नवम्बर, २०१० ।
15. बयान : वही, लोकतंत्र के ६० वर्षों में सदियों का संताप और जूठन कब तक?, वर्ष-५, अंक-५३, दिसम्बर २०१० ।
16. बयान : वही, दलित साहित्य में द्विजों की घुसपैठ, वर्ष-५, अंक-५९, जून २०११ ।
17. बयान : वही, पुस्तक मेलों तथा नाटक महोत्सवों में दलित एवं आदिवासियों की सहभागिता कितनी? वर्ष-६, अंक-६७, फरवरी २०१२ ।
18. बहुरि नहिं आवना : डॉ.श्यौराज सिंह बेचैन (प्रधान सं), वर्ष-४, अंक-१०, संयुक्तांक-अक्टूबर २०११, मार्च २०१२ ।
19. युद्धरत आम आदमी : रमणिका गुप्ता (सं), सृजन के आईने में मलमूत्र ढोता भारत, पूर्णांक-१००, विशेषांक, २००९ ।
20. युद्धरत आम आदमी : रमणिका गुप्ता (सं), अंक-१०६, जनवरी-मार्च-२०११ ।
21. युद्धरत आम आदमी : रमणिका गुप्ता (सं), वॉल्यूम-१, अंक-२, अप्रैल-जून-२०१२ ।

22. वर्तमान साहित्य : नमिता सिंह (सं), स्त्री मुद्दों पर केन्द्रित अंक, वर्ष-२९, मार्च २०१२ ।
23. समयांतर : पंकज विष्ट (सं), वर्ष-४३, अंक-४, जनवरी २०१२ ।
24. हंस : राजेन्द्र यादव (सं), वर्ष-२६, अंक-९, अप्रैल २०१२ ।